नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

मासिक समाचारपत्र • पूर्णांक 127 • वर्ष 10 • अंक 12
जनवरी 2009 • तीन रुपये • 12 पृष्ठ

नये साल के मौक़े पर मेहनतकश साथियों का आह्वान

पूँजीवाद की क़ब्र खोदने के लिए कमर कसकर तैयार हो जाओ! नयी समाजवादी क्रान्ति की अलख जगाओ!

सम्पादक मण्डल

नयी सदी का एक और साल इतिहास बन गया। यूँ देखा जाये तो मेहनकश अवाम के लिए यह साल हाल के कुछ वर्षों से ज्यादा अलग नहीं था। पूँजी की लुटेरी मशीन के चक्के इस वर्ष भी मेहनतकशों को पीसते रहे, उनकी रक्त-मज्जा की एक-एक बूँद निचोड़कर मुनाफ़ाख़ोरों की तिजोरियाँ भरती रहीं, जनसंघर्षों का दमन-उत्पीड़न कुछ और तेज हो गया, जाति-धर्म-क्षेत्र-भाषा के मुद्दे उभाड़कर लोगों को आपस में लड़ाने के गन्दे खेल में कुछ नयी घिनौनी चालें जुड़ गयीं, संसद के सुअरबाड़े में जनता के करोड़ों रुपये खर्च कर थैलीशाहों की सेवा और जनता के दमन के लिए क़ानून बनाने और बकबक करने का काम बदस्तूर चलता रहा, लाल कलगी वाले नकली वामपन्थी मुर्गे मज़दूरों को बरगलाने-भरमाने के लिए समर्थन और विरोध की बुर्जुआ राजनीति के दाँवपेंचों की नयी बानगियाँ पेश करते रहे, पूँजीवादी राजनीति के कोढ़ से जन्मा आतंकवाद का नासूर सच्चे मुक्ति संघर्ष की राह को और कठिन बनाता रहा और क्रान्तिकारी शक्तियों की दिशाहीनता और बिखराव के कारण जनता के सामने विकल्पहीनता की स्थिति ज्यों-की-त्यों बरकरार रही...

लेकिन फिर भी 2008 का वर्ष इक्कीसवीं सदी के इतिहास में एक अहम मुक़ाम के तौर पर दर्ज किया जायेगा। इस वर्ष एक ऐसी मन्दी की शुरुआत हुई है जिसकी तुलना 1930 की महामन्दी से ही की जा सकती है और जो कुछ मायनों में पूँजीवाद के लिए उस पहली महामन्दी से भी ज़्यादा घातक साबित होगी। वैसे तो 1970 के दशक से ही विश्व पूँजीवाद मन्दी से पूरी तरह कभी उबर नहीं सका है। 1970 के दशक में शुरू हुई मन्दी लगातार बनी ही रही है। बीच-बीच में मन्दी के भीतर मन्दी का संकट भयंकर रूप में फूट पड़ता रहा है। लेकिन पिछले वर्ष के उत्तरार्द्ध में जो ज़बर्दस्त वित्तीय संकट फट पड़ा और जिसका असर तमाम बेलआउट पैकेजों के बावजूद फैलता ही जा रहा है, वह कई मायनों में अभूतपूर्व है। 1973 के तेल संकट और ब्रेट्टन वुड्स समझौते के टूटने के बाद पैदा हुई मन्दी, 1981-82 की मन्दी, 1987 में शेयर बाज़ारों के महाध्वंस, 1990 में 'एशियाई शेरों' की अर्थव्यवस्था के बर्बादी के कगार पर पहुँच जाने जैसे बीच के किसी भी भीषण आर्थिक संकट से इस स्थिति की तुलना नहीं की जा सकती। यह 1930 के दशक के बाद की सबसे बड़ी और गहरी महामन्दी है, लेकिन यह पिछली महामन्दी से अलग भी है। यह भूमण्डलीकरण के दौर की मन्दी है जिसका फैलाव वाकई वैश्विक पैमाने पर है। विश्व अर्थव्यवस्था का कोई हिस्सा इसकी मार से बचा नहीं रह सकता। अमीर देशों द्वारा अपने संकट को पिछड़े देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर टाल देने की गुंजाइश अब पहले से बहुत कम रह गयी है क्योंकि ये देश खुद ही संकट के शिकार हैं।

पूँजीवादी तंत्र के सिपहसालारों और रणनीति-विशारदों को इस संकट से बचने का कोई भी उपाय नहीं सूझ रहा है। पूँजीवादी सरकारें बैंकों और कम्पनियों को दिवालिया होने से बचाने के लिए एक के बाद सैकड़ों अरब डॉलर के 'बेल आउट पैकेज' घोषित कर रही हैं लेकिन सारी रकमें तपती बालू में पानी की बूँदों की तरह ग़ायब हो जा रही हैं और अर्थव्यवस्था की हालत और भी खस्ताहाल होती जा रही है। पूँजीवादी व्यवस्था के मैनेजरों की बदहवासी इस बात से समझी जा सकती है कि वे आज वही काम कर रहे हैं जिसे वे महज तीन साल पहले व्यवस्था के लिए घातक बता चुके हैं। 2005 में सब-प्राइम संकट से उबरने के लिए बाज़ार में सरकारी पूँजी झोंकने के प्रस्ताव को अमेरिकी फेडरल रिज़र्व ने यह कहकर ख़ारिज कर दिया था कि इससे तात्कालिक राहत तो मिलेगी लेकिन कुछ ही समय बाद वित्तीय संकट और भी बड़े पैमाने पर लौटकर आ जायेगा। अब सबकुछ जानते हुए भी पूँजीवादी दुनिया के महारथियों को इसी तरीके पर अमल करने के सिवा कोई रास्ता नहीं सूझ रहा है तो उनकी बौखलाहट और निरुपायता का अनुमान लगाया जा सकता है।

इस विश्वव्यापी वित्तीय संकट ने एक बार फिर यह साबित कर दिया है कि साम्राज्यवाद के आगे पूँजीवाद की कोई और अवस्था नहीं है और एक सामाजिक-आर्थिक संरचना और विश्व-व्यवस्था के रूप में पूँजीवाद की उम्र बहुत लम्बी नहीं हो सकती। एक बार फिर यह स्थापना वस्तुगत यथार्थ के रूप में उभरकर सामने आने लगी है कि साम्राज्यवाद की अवस्था सर्वहारा क्रान्तियों की पूर्वबेला है।

●

जनता की कमाई से टैक्सों के रूप में उगाही गयी भारी धनराशियाँ पूँजीपतियों को बचाने के लिए लुटा रही सरकारों ने बुर्जुआ जनवाद की असलियत को तार-तार कर दिया है। यह बात एकदम नंगे तौर पर सामने आ गयी है कि बुर्जुआ सरकारें वास्तव में पूँजीपति वर्ग की मैनेजिंग कमेटी ही होती हैं।

इस सबकी क़ीमत आखिरकार मेहनतकश जनता को ही चुकानी है। पूरी दुनिया में छँटनी, तालाबन्दी, बेरोज़गारी का सिलसिला हर दिन तेज़ होता जा रहा है। अमेरिका में पिछले एक महीने में पाँच लाख रोज़गार कम हो गये। भारत में केवल निर्यात क्षेत्र में एक करोड़ रोज़गार खत्म होने का अनुमान लगाया जा रहा है। दुनिया की तमाम कम्पनियों ने एकमुश्त या किश्तों में छँटनी शुरू कर दी है या करने वाली हैं। बहुतेरी कम्पनियों ने उत्पादन लक्ष्य कम कर दिये हैं, कुछ कम्पनियाँ हफ़्ते में एक या दो दिन काम बन्द रख रही हैं तो कुछ ने सीधे अपने कुछ संयन्त्रों को बन्द कर दिया है। दुनियाभर के अर्थशास्त्रियों और पूँजी की दुनिया के नेताओं को इस दुश्चक्र से बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं सूझ रहा है। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं कि अपने संकटों के बोझ से पूँजीवाद की इमारत खुद ही ढह जायेगी। पूँजीवादी व्यवस्था का नाश तो जनक्रान्तियों के द्वारा ही सम्भव है। हाँ, यह तय है कि देर-सबेर मन्दी के भँवर

(पेज 4 पर जारी)

मन्दी की मार से करोड़ों मज़दूरों के रोज़गार पर असर

पूँजीपतियों को राहत बाँट रही सरकार के पास मज़दूरों को देने के लिए कुछ भी नहीं

वैश्विक मन्दी शुरू होने के बाद से ही भारत सरकार बार-बार बयान बदलती रही है। पहले तो यही कहा जाता रहा कि मन्दी का भारतीय अर्थव्यवस्था पर कुछ खास असर नहीं होने वाला है, लेकिन जल्दी ही मन्दी के झटकों ने उन्हें रुख बदलने के लिए मजबूर कर दिया। अब सरकार को यह खुले तौर पर स्वीकारना पड़ रहा है कि आने वाला समय अर्थव्यवस्था के लिए काफ़ी मुश्किल साबित होगा और हमें बुरे से बुरे के लिए तैयार रहना चाहिए।

ज़ाहिर है, यह "बुरे से बुरा" वक़्त अमीरों के लिए कुछ ख़ास बुरा नहीं होगा, उनकी पार्टियों में अब भी जाम झलकते रहेंगे, उनके बँगलों के बाहर अब भी नयी-नयी गाड़ियाँ आती रहेंगी और फ़ैशन की चकाचौंध फीकी नहीं पड़ेगी। लेकिन देश के करोड़ों ग़रीब और मेहनतकश लोगों के लिए इसका मतलब होगा बेरोज़गारी, छँटनी, भुखमरी, बच्चों की पढ़ाई छूटना, दवा के बिना बच्चों का मरना, आत्महत्याएँ...

अगर आँकड़ों को देखें तो पता चल जाता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था को वैश्विक मन्दी के समय में उदारीकरण और भूमण्डलीकरण की नीतियों के कारण बड़ी कीमत चुकानी पड़ रही है। बीमा सेक्टर में 2007 के मुकाबले 2008 में वृद्धि दर 24 प्रतिशत से घटकर 17 प्रतिशत रह गयी। इसके कुछ समय बाद ही देश के सबसे बड़े कार-निर्माता मारुति ने घोषणा की कि उसकी बिक्री में नवम्बर माह में 24 प्रतिशत की गिरावट आयी और अगर यह रुझान जारी रहा तो वह उत्पादन में कटौती कर सकता है। भारतीय सरकार ने छमाही आर्थिक समीक्षा में कहा कि मैन्युफैक्चरिंग सेक्टर पर मन्दी का भारी प्रभाव पड़ सकता है। केरल की सरकार के आँकड़ों से पता चलता है कि मन्दी ने उसकी अर्थव्यवस्था पर गहरी चोट की है। उसका पर्यटन उद्योग गिरावट

(पेज 5 पर जारी)

भीतर के पन्नों पर

परजीवी पूँजीवाद का असली चेहरा....4
विश्वव्यापी खाद्य संकट की "खामोश सुनामी" जारी है......5
बोलते आँकड़े चीखती सच्चाइयाँ 5
फ़िलिस्तीनी जनता का प्रतिरोध कुचला नहीं जा सकता.......6
ग्रीस के छात्रों-नौजवानों-मज़दूरों का आन्दोलन......6
चीन की मेहनतकश जनता नये बुर्जुआ शासकों के ख़िलाफ़ लड़ रही है.....7
सही विचार आखिर कहाँ से आते हैं?..8
नताशा- एक महिला बोल्शेविक संगठनकर्ता...9

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

कम्पनी के लिए एक मज़दूर की जान की क़ीमत महज़ 50,000 रुपये

विगत 6 दिसम्बर 2008 को 17 वर्षीय मज़दूर सोनू की राई औद्योगिक क्षेत्र (सोनीपत) में स्थित प्लास्टिक की एक कम्पनी में मौत हो गयी। कम्पनी के मालिक के मुताबिक़ सोनू 'पानी पीने के लिए नल के पास गया था और अचानक पैर फिसलने से वह गिर गया और गम्भीर रूप से घायल हो गया। इसके बाद वे उसे राई अस्पताल में ले गये जहाँ डॉक्टर नहीं मिला। फिर सोनू को राजा हरीश्चन्द्र अस्पताल ले गये जहाँ उसकी मृत्यु हो गयी।' वैसे तो मालिकों की बात पर शायद ही कोई विश्वास करेगा। पर घटना पर ज़रा ग़ौर करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि सच्चाई क्या थी? यह घटना रात के 8.30 बजे की है। उसके बाद राई में उन्हें कोई डॉक्टर नहीं मिला। फिर महज 4-5 किमी. की दूरी पर स्थित राजा हरीश्चन्द्र अस्पताल में ऑटो से पहुँचने में 11.30 बज गये यानि 3 घण्टे। शव पर चोट का कोई निशान नहीं था।

हक़ीक़त यह थी कि सोनू की राई अस्पताल में जाने से पहले ही मौत हो गयी थी। और अन्य मज़दूरों ने दबी ज़ुबान से बताया कि सोनू की मौत फिसलने के बजाय बिजली का करण्ट लगने से हुई थी। उसके बाद जैसा कि आमतौर पर होता है मालिक, मैनेजर, सुपरवाईजर ने अपने चमचों के ज़रिये यह ख़बर फैला दी कि उसकी मौत फिसलकर गिरने से हुई थी। सोनू जहाँ रहता था (शिवपुरी में) वहाँ के प्रधान को तथा पुलिस वालों को अपनी तरफ़ मिलाकर बिना पोस्टमार्टम के सोनू की लाश सोनू के घर वालों को दे दी। घर वालों को मालिक ने 50,000 रुपये देने की बात की। हालाँकि मालिक ने तुरन्त कुछ नहीं दिया। जबकि सोनू के घरवालों के पास कफ़न तथा लकड़ी खरीदने तक के भी पैसे नहीं थे। आस-पास के दुकान वालों तथा स्थानीय प्रधान से उधार लेकर सोनू की लाश को जलाया गया।

मालिक 50,000 रुपये देना भी इसलिए माना क्योंकि बात बढ़ने पर सच्चाई सामने आ जाती और दूसरे यह भी कि सोनू बालिग नहीं था। मालिक ग़ैरक़ानूनी ढंग से काम करवा रहा था। सोनू के घरवाले सच्चाई को भाँप चुके थे परन्तु वे चुप रहने पर मजबूर थे। उनका साथ देने वाला कोई नहीं था और जिनसे कार्रवाई की उम्मीद करते वो पुलिस प्रशासन तो मालिक के साथ ही खड़ा था।

इस तरह पैसे की हवस फिर एक मज़दूर की ज़िन्दगी को लील गयी। जिस उम्र में एक नौजवान को स्कूल कॉलेज में होना चाहिये था उस उम्र में वह नौजवान फ़ैक्ट्री में मालिकों के मुनाफ़े के लिए हाड़-माँस गलाते हुए असमय मौत का शिकार बन गया। मालिकों ने मज़दूर की एक ज़िन्दगी को 50,000 रुपये में तौल दिया।

रात को जब चारों ओर सन्नाटा था तो सोनू की माँ की चीख-चीख कर रोने की आवाज़ अन्तरात्मा पर हथौड़े की चोट की तरह पड़ रही थी। और सवाल कर रही थी कि हमारे मज़दूर साथी कब तक इस तरह मरते रहेंगे। कुछ लोगों के लिए हर घटना की तरह यह भी एक घटना थी उसके बाद वे अपने कमरे में जाकर सो गये। क्या वाकई 10-12 घण्टे के काम ने हमारी मानवीय भावनाओं को इस तरह कुचल दिया है कि ऐसी घटनाओं को सुनकर भी इस व्यवस्था को उखाड़ फेंकने की आग नहीं सुलग उठती। एक बार अपनी आत्मा में झाँककर हमें ये सवाल ज़रूर पूछना चाहिए।

– जीतू
शिवपुरी कॉलोनी, प्याऊ मनियारी रोड
सोनीपत

पूँजीवादी संकट और मज़दूर वर्ग

सन् 2008 में अमेरिकी पूँजी बाज़ार से शुरू हुई आर्थिक संकट की 'सुनामी' थमने का नाम नहीं ले रही है। अमेरिकी अर्थव्यवस्था व उसका पूँजी बाज़ार पूरी तरह दिवालिया हो चुके हैं और वहाँ की लेहमन ब्रदर्स जैसी दिग्गज वित्तीय संस्थाओं के चारों खाने चित्त हो जाने से अमेरिकी अर्थव्यवस्था की चूलें हिल गयी हैं। लेकिन हमारे देश के वर्तमान डॉ. मनमोहन सिंह सरकार व देश के वित्तमंत्री पी. चिदम्बरम तथा आर्थिक मामलों में महारत हासिल इनके आर्थिक सलाहकार और कारपोरेट हितों की पुरज़ोर हिमायत करने वाला समूचा मीडिया इतने बड़े सच संकट को सिरे से झुठलाते हुए इस बात का दम भर रहे हैं कि हमारी अर्थव्यवस्था इस 'आर्थिक सुनामी' से प्रभावित नहीं होगी और हम इससे साफ़ बच जाएँगे। सरकार की इस कपोत वृत्ति का कोई इलाज नहीं है। पी. चिदम्बरम् भी पता नहीं किस आधार पर 'ऐसोचम' की इस बात से इंकार करते हैं कि विमानन, आई. टी., बी. पी. ओ, रीयल एस्टेट, सीमेण्ट आदि प्रमुख क्षेत्रों में 25 प्रतिशत छँटनी होगी। वे भी हवाई फतवे देते फिर रहे थे कि आर्थिक संकट के कारण नौकरियाँ कम नहीं होंगी बल्कि और बढ़ेंगी। इसी तर्ज़ पर देश के रिजर्व बैंक के गवर्नर डी. सुब्बाराव चालू वित्त वर्ष (2008-09) में जी.डी.पी वृद्धि दर 7.5 से 8.0 प्रतिशत के बीच रहने का अनुमान कर रहे हैं और कह रहे हैं कि देश वर्तमान वैश्विक संकट से कम प्रभावित होगा। जबकि आर्थिक उदारीकरण और भूमण्डलीकरण का विश्वव्यापी एजेण्डा ही 'पूँजी का विश्वव्यापी निवेश' करना है। मार्क्स बहुत पहले ही कह चुके हैं कि पूँजी का स्वरूप अन्तरराष्ट्रीय है। इसलिए अमेरीकी आर्थिक संकट से हम बच रहेंगे, कोरा झूठ है। पूँजीवादी प्रेस व समूचा दृश्य मीडिया, उसके आर्थिक विशेषज्ञ और शासक वर्ग के पेशेवर झाँसेबाज-पत्रकारों की फौज़ भी **'अर्थव्यवस्था को स्वस्थ-दुरुस्त'** बताने की प्रतिस्पर्धा में एक दूसरे को मात देने की होड़ में जमीन-आसमान एक किये दे रहे थे जबकि सच्चाई यह है कि निजी क्षेत्र की विमानन कम्पनियाँ जेट एयरवेज ने इसी आर्थिक मन्दी के चलते अपने पायलटों की छुट्टी कर डाली। किंगफिशर भी इसके नक्शेक़दम रही और सरकारी क्षेत्र की इण्डियन एयरलाइंस ने भी अपने 15 हज़ार कर्मचारियों को बिना वेतन के तीन से पाँच साल तक अवकाश पर भेजने या फिर वेतन कटौती जैसे छँटनी प्रोग्राम का एलान किया है। अमरीकी वित्तीय संस्था 'सिटीग्रुप' ने एक ही झटके में 50 हज़ार कर्मचारियों को निकाल बाहर कर डाला है। टाटा मोटर्स ने भी अपनी पश्चिम बंगाल स्थित औद्योगिक इकाई में उत्पादन बन्द करने का फ़ैसला कर लिया है और मज़दूरों को रोज़गार से हाथ धेना पड़ा है। इस सम्बन्ध में क़ाबिलेग़ौर तथ्य यह भी है कि अन्तरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था सम्बन्धी अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के अनुमानों पर आधरित अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन के निदेशक जुआन सोमाविया का तो यहाँ तक कहना है कि सन 2009 के अन्त तक दुनिया के तक़रीबन दो करोड़ दस लाख लोग अपनी नौकरी से हाथ धो बैठेंगे।

आर्थिक संकट की इस स्थिति में वर्तमान सरकार आगामी लोकसभा चुनाव के मद्देनज़र साफ़-साफ़ यह कैसे कहे कि आर्थिक संकट और गहरा होगा। सरकार की तरफ़ से आने वाले बयानों में ज़बरदस्त विरोधाभास साफ़ नज़र आता है। 21 नवम्बर 2008 को वाणिज्य सचिव, भारत सरकार का कहना है कि आगामी 5 महीने में टैक्सटाइल इंजीनियरिंग उद्योग की 5 लाख नौकरियाँ चली जायेंगी। खुद श्रममंत्री की दिसम्बर 2008 की 'सी.एन.बी.सी. आवाज़' टी.वी. चैनल पर चलने वाली ख़बर यह कहती है कि अगस्त से अक्तूबर 08 तक देश में 65,500 लोगों की नौकरियाँ खत्म हुईं हैं। वाणिज्य सचिव आर्थिक मन्दी के कारण नौकरियाँ खत्म होने की बात कर रहे हैं, वहीं दूसरी तरफ भारत सरकार के केबिनेट सचिव के.एम. चन्द्रशेखर छँटनी से साफ इन्कार करते हुए कहते हैं कि आर्थिक संकट से निबटने के लिए भारतीय कम्पनियों का मनोबल विदेशी कम्पनियों से ऊँचा है –"घबराइये मत, भारत में छँटनी नहीं होगी: कैबिनेट सचिव" (अमर उजाला, 2 दिसम्बर 2008)।

देश की अर्थव्यवस्था पर आये इस संकट की घड़ी में जब हमारा खुद का रुख़ इतना ग़ैरज़िम्मेदार, बेग़ैरतभरा और आत्मघाती होगा, तब हम इस आर्थिक 'सुनामी' से बच कैसे सकते हैं! संकट को देखते हुए उसकी अनदेखी करना तो वैसी ही बात हुई कि जो सोया है उसे तो जगाया जा सकता है, लेकिन जो सोने का बहाना किये है उसे कौन जगा सकता है? यह देश के बहुसंख्यक मेहनतकश वर्किंग क्लास को गुमराह कर उसे बेरोज़गारी की हालत में मरने के लिए छोड़ देना है। संकट की इस बुरी घड़ी में दुनिया के मज़दूर वर्ग को अपने असली दुश्मन-वर्तमान सरकारों व पूँजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ एकजुट होकर प्रतिरोध खड़ा करते हुए उचित क़दम उठाना चाहिए। शासक वर्ग के इस 'वर्किंग क्लास विरोधी' विश्वव्यापी प्रपंच के खिलाफ अन्तरराष्ट्रीय मुहिम छेड़ना समय का तकाज़ा है। इस नाज़ुक समय में अपनी ऐतिहासिक भूमिका और महाशक्ति को एक बार फिर याद करें और पहचाने। पूँजीवाद का नाश ही दुनिया को बचा सकता है अन्यथा पूँजीवाद फिर एक बार पूरी दुनिया को तीसरे विश्व युद्ध में झोंकने के सरंजाम जुटा रहा है। यह आर्थिक 'सुनामी' ख़तरे की घण्टी है।

सन 2008 का आर्थिक संकट सन् 1929 के संकट से भी गहरा, व्यापक और भयावह है। पूँजीवाद, दुनिया में आर्थिक विकास, तरक्की, खुशहाली और समृद्धि के बड़े लम्बे चौड़े दावे करते नहीं थक रहा है। पूरी दुनिया का कायापलट यानी अमेरिकीकरण करने का खम ठोक रहा था पर आज इस पूँजीवाद के गुब्बारे की हवा फिर एक बार निकल गयी है। पूँजीवाद दुनिया के किसी मर्ज़ की दवा नहीं है, चूंकि शोषण, लूट, आत्महत्याएँ और युद्ध इसकी सौगात हैं जो मज़दूर वर्ग के हिस्से ही आती हैं।

वस्तुत: इस आर्थिक 'सुनामी' की जड़ शोषण, मुनाफ़ा और बाज़ार के लिए उत्पादन है, मानवीय ज़रूरतों के लिए नहीं। सन 1913 से पूँजीवाद अपनी पतनशीलता में दाख़िल हो चुका है। उसने दो-दो विश्व युद्ध झेले हैं। आई.एम.एफ ने अपनी रिपोर्ट में घोषणा की है कि सन 2009 के आरम्भ तक दुनिया के 50 देश 'भुखमरी के शिकार' देशों की सूची में शामिल हो जाएँगे। जिसमें अफ़्रीका, लातिन अमेरिका, कैरिबियन और एशिया के देश भी शामिल हैं।

– योगेन्द्र कुमार
आगरा

इंक़लाब की तलवार विचारों की सान पर तेज़ होती है।
– भगतसिंह

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और जिम्मेदारियाँ

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफवाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर (कम्युनिस्टों) और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाजों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक **बिगुल**

सम्पादकीय कार्यालय	:	69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
सम्पादकीय उपकार्यालय	:	जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ
दिल्ली सम्पर्क	:	बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर दिल्ली-94 फोन : 011-65976788
ईमेल	:	bigul@rediffmail.com

मूल्य : एक प्रति–रु. 3/- वार्षिक–रु. 40.00 (डाक खर्च सहित)

बिगुल

'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध :

1. डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
2. जनचेतना स्टाल, काफी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे तक)
3. जाफरा बाजार, गोरखपुर-273001
4. जनचेतना सचल स्टाल (ठेला) चौड़ा मोड़, नोएडा (शाम 5 से 8)

दिल्ली के ग़रीब बच्चों की नहीं मॉल वालों की चिन्ता है नगर निगम को

पिछले दिनों मीडिया ने यह भण्डाफोड़ किया कि दिल्ली नगर निगम ने 60 स्कूलों की जमीन मॉल, मल्टीप्लेक्सों और होटलों को बेच देने का प्रस्ताव कर रखा है! हालाँकि बाद में थुक्का-फजीहत से घबराकर फिलहाल इस प्रस्ताव को वापस ले लिया गया है। लेकिन यह निचले स्तर से लेकर ऊपर तक सरकारों की मंशा को तो जाहिर कर ही देता है।

यह प्रस्ताव ऐसे समय में लाया गया है जबकि सरकारी आँकड़ों के मुताबिक नगर निगम दिल्ली के लगभग नौ लाख बच्चों को मुश्किल से प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध करवा पा रहा है और 3-4 लाख बच्चों को शिक्षा देने में असमर्थ साबित हो चुका है। एक अन्य अध्ययन के मुताबिक केवल दिल्ली में कभी स्कूल न जाने वाले और स्कूल छोड़ देने वाले बच्चों की संख्या लगभग 10 लाख से ज़्यादा है।

दिल्ली के 65 प्रतिशत प्राथमिक स्कूल दिल्ली नगर निगम यानी एमसीडी द्वारा संचालित किये जाते हैं। देश भर से रोज़ी-रोटी की तलाश में आने वाली बहुत बड़ी आबादी यहाँ रहकर किसी तरह अपना गुजर-बसर करती है। इस तबके के ज़्यादातर लोग या तो फ़ैक्ट्रियों, दुकानों में छोटी-मोटी नौकरी करते हैं या अपना कोई छोटा-मोटा काम जैसे रिक्शा चलाना, ठेली खींचना, रेहड़ी-पटरी लगाना आदि करते हैं। असंगठित क्षेत्र की इस आबादी के लिए जब शाम की रोटी का जुगाड़ ही मुश्किल होता है तो बच्चों की पढ़ाई-लिखाई के लिए ख़र्च करने का सवाल ही पैदा नहीं होता। इसीलिए अपनी ख़राब हालत के बावजूद अभी भी नगर निगम द्वारा संचालित ये स्कूल ग़रीब परिवारों के बच्चों की बड़ी संख्या के लिए शिक्षा पाने का एकमात्र जरिया हैं।

यह ग़ौर करने वाली बात है कि नगर निगम द्वारा जिन इलाक़ों के स्कूलों की ज़मीन बेची जा रही है वहाँ अब खाली जगह बची ही नहीं है। ज़ाहिर है कि दिल्ली नगर निगम का इरादा बच्चों के स्कूल की ज़मीन बिल्डरों को बेचकर मोटी रकम उगाहने के साथ-साथ उन इलाक़ों से सरकारी स्कूलों को हमेशा के लिए बन्द कर देने का भी है। इसका तर्क भी यह दिया जा रहा है कि इन स्कूलों में बच्चे नहीं आते। पहली बात तो यह कि दिल्ली के कई इलाक़ों से झुग्गी-झोपड़ियों को उजाड़कर दूर-दराज के इलाकों में जबरन बसा दिया गया है। जिन इलाकों में इन लोगों को बसाया गया है वहाँ कई और बुनियादी सुविधाओं के साथ-साथ स्कूल वगैरह भी नहीं हैं। क्या दिल्ली नगर निगम उन नये बसाये गये इलाकों में स्कूल खोलने का इरादा रखती है? ज़ाहिरा तौर पर उसकी रुचि उन इलाक़ों में स्कूल खोलने की कतई नहीं है। यह बात भी गले से उतरने लायक नहीं है कि किसी इलाके से सरकारी स्कूल में पढ़ने वाले बच्चे बिल्कुल ही खत्म हो जायें। इसका मतलब तो यह होगा कि उस इलाके में गरीब आबादी ही नहीं रहती है। जबकि ऐसा हो नहीं सकता। यह हो सकता है कि पहले नियम-क़ानूनों का बहाना करके बच्चों को दाखिला नहीं दिया गया होगा और अब बच्चे न आने का बहाना बनाया जा रहा हो।

दिल्ली नगर निगम द्वारा लगभग 1820 स्कूल संचालित किए जाते हैं। इनमें पढ़ाई की बदहाल स्थिति का इसी से अन्दाज़ा लग सकता है कि कक्षा 1 से 5 तक स्कूल छोड़ देने वाले बच्चों का प्रतिशत 25 से 30 के बीच है। स्कूलों में बुनियादी सुविधाओं तक का अकाल है। इनकी खराब हालत में पीने वाले पानी की व्यवस्था न होना, शौचालय न होना, बिल्डिंग न होना, बिजली न होना आदि हैं। अध्यापकों और जरूरी अध्ययन सामग्री की कमी तो आम बात है। बहुत सारे स्कूल अभी भी टेण्ट में चल रहे हैं।

दिल्ली नगर निगम के स्कूलों में बच्चों को क़िताबें देने के लिए भारी भरकम बजट आवण्टित होता है। परन्तु किताबें देने में पहले एक तो अध्यापक ही सौ आनाकानियाँ करते हैं और फिर देते भी हैं तो पहली तिमाही परीक्षा के आसपास जाकर। नतीज़तन ज़्यादातर बच्चों को पहले ही किताबें ख़रीदनी पड़ती हैं। इसी तरह गर्मी में पैण्ट-कमीज़ का कपड़ा और सर्दी में एक स्वेटर देने का भी प्रावधान कागज़ों में है। लेकिन अक्सर स्वेटर तब मिलता है जब सर्दियाँ ख़त्म हो चुकी होती है।

2002 की कैग रिपोर्ट के मुताबिक़ दिल्ली नगर निगम का शिक्षा के मद का 56.60 करोड़ रुपये बिना प्रयोग किये रह गये थे। इसी तरह उस अवधि में 230 नये स्कूल खोलने की योजना थी जिसमें से सिर्फ 92 खोले गये थे। ये आँकड़े सिर्फ एक नमूना है कि आम आदमी के बच्चों की शिक्षा के साथ कितना सौतेला व्यवहार किया जाता है।

तस्वीर का दूसरा पहलू यह है कि प्राईवेट स्कूल दिन-दूनी रात-चौगुनी तरक्की कर रहे हैं। बड़ी आलीशान बिल्डिंगों, ए.सी. क्लासरूम, घास के हरे-भरे मैदानों, स्वीमिंग पूलों, वॉलीबॉल और टेनिस कोर्टो, थियेटरनुमा हॉलों, खेल के बड़े मैदानों, विशाल लाइब्रेरियों समेत कई तरह की सुविधाओं वाले स्कूलों की बाढ़ भी इसी दिल्ली में मौजूद है। इन स्कूलों को सरकार कई तरह के प्रोत्साहन भी देती है। मसलन इन्हें मिलने वाली ज़मीन अक्सर कौड़ियों के भाव दे दी जाती है। इसके बदले में कहने के लिए इन स्कूलों में 10 प्रतिशत गरीब बच्चों को दाखिला देने का प्रावधान भी मौजूद है। लेकिन यह सिर्फ कागज़ों की शोभा बढ़ाता है। दिल्ली उच्च न्यायालय के इस सम्बन्ध में दिये गये आदेश को ठेंगा दिखाते हुए स्कूल मालिक इस नियम को रद्दी की टोकरी के हवाले कर रहे हैं। दिखाने के लिए सरकार भी इसे लागू करने की नक़ली कवायद करती दिखाई पड़ती है लेकिन सच्चाई यह है कि कई स्कूल राजनीतिक नेताओं के प्रत्यक्ष निर्देशन या संरक्षण में चलते हैं, जबकि अधिकांश स्कूल मालिकों ने किसी न किसी प्रमुख राजनीतिक पार्टी से साँठगाँठ कर रखी है ताकि उन्हें किसी तरह की दिक़्क़त न आये।

दरअसल सरकारी स्कूलों के साथ अपेक्षा का भाव महज़ सरकारी उदासीनता या लापरवाही नहीं है। मौजूदा लागू आर्थिक नीतियाँ तमाम कल्याणकारी कामों को धीरे-धीरे सरकार से बाज़ार के हवाले कर देने की पैरवी करती हैं। इन नीतियों को लागू करने में कांग्रेस, बीजेपी से लेकर सपा-बसपा और पश्चिम बंगाल-केरल के कथित मार्क्सवादी भी बढ़-चढ़ कर आगे रहते हैं। इसलिए एक धीमी प्रक्रिया में सरकारी शिक्षा की हालत को ख़राब किया जा रहा है और निजी क्षेत्र को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। गली-गली में खुलती जा रही शिक्षा की दुकानें (प्राईवेट स्कूल) इसका उदाहरण हैं। शिक्षा को निजी क्षेत्र के लिए पैसा कमाने की दुकानों में तब्दील करके इसे आम आदमी के बच्चों की पहुँच से लगातार बाहर धकेला जा रहा है। दिल्ली नगर निगम द्वारा स्कूलों की ज़मीन मॉल, मल्टीप्लेक्सों, होटलों को बेचना इसी प्रक्रिया की एक कड़ी है।

पूँजीवादी व्यवस्था का कुप्रचार अक्सर 'सबको शिक्षा, सबको रोज़गार' सबको ये, सबको वो वगैरह का बेसुरा राग अलापता रहता है। लेकिन इसका असली चेहरा एकदम उलट है। एक तरफ पंचसितारा होटलों जैसी सुविधाओं वाले स्कूल हैं तो दूसरी तरफ दिल्ली नगर निगम जैसे बुनियादी सुविधाओं से कोसों दूर रहने वाले स्कूल हैं। एक तरफ कुछ प्रतिशत आबादी के बच्चों के लिए शिक्षा के भारी सरंजाम खड़े किये गये हैं तो दूसरी ओर बहुत बड़ी आबादी के बच्चों से शिक्षा छीनी जा रही है। पूँजीवादी भोंपू चाहे कितना चीख-चीख कर झूठ बताते रहें लेकिन सच्चाई बार-बार सामने आती रहेगी।

– कपिल

मैगपाई की गुण्डागर्दी के ख़िलाफ़ मज़दूरों का जुझारू संघर्ष

सोनीपत के कुण्डली में 215/213, एचएसआईडीसी एस्टेट स्थित मैगपाई इण्टरनेशनल लिमिटेड में हाल ही में हुई घटना से पता चलता है कि पूँजीपति अपने मुनाफ़े के लिए मज़दूरों की हड्डियों तक का चूरा बना कर बेच सकते हैं। एचएसआईडीसी एस्टेट में मसाला, बर्फ़, बीयर, कपड़ा, चप्पल, जूता, इलेक्ट्रिक पार्ट्स तथा बर्तन इत्यादि की फ़ैक्ट्रियाँ हैं। यहाँ बना अधिकतर माल विदेशों में भेजा जाता है। यहाँ फ़ैक्ट्रियों में अधिकतर ठेके पर तथा पीस रेट पर काम करने वाले असंगठित मज़दूर हैं जबकि कुछ बड़ी फ़ैक्ट्रियों में मज़दूरों का जॉब कार्ड, ईएसआई कार्ड बना है, और पीएफ कटता है। ऐसे मज़दूरों को यहाँ 8 घण्टे के 3500-3600 रुपये मिलते हैं बाक़ी को वही 2000-2500 रुपये।

मैगपाई इण्टरनेशनल लिमिटेड में बर्तन बनते हैं जिनकी विदेशों में सप्लाई की जाती है। इस फ़ैक्ट्री में अधिकतर मज़दूरों का ईएसआई कार्ड, जॉब कार्ड बना था तथा पीएफ कटता था। हालाँकि, इसके वेल्डिंग डिपार्टमेण्ट में ठेके पर भी मज़दूर रखे गये थे। यहाँ हेल्परों को 8 घण्टे का 3665 रुपये मिलता है। स्टाफ को छोड़कर यहाँ पर मज़दूरों की संख्या 500-600 के क़रीब है। कम्पनी का मालिक कैलाश जैन तथा जनरल मैनेजर एस.एस.गुप्ता है। मुनाफ़ा बटोरने में कोई रुकावट न हो और यूनियन आदि के झमेले से बचा सके इसके लिए बड़ी कम्पनी होने के चलते सामान्य स्थिति में मज़दूरों 3665/- रुपये दिये जा रहे थे। लेकिन अन्य फ़ैक्ट्रियों में कम वेतन होने के कारण यहाँ काम करने की मज़दूरों की मजबूरी का फ़ायदा उठाकर उनको खूब निचोड़ा जा रहा था। यहाँ अन्य फ़ैक्ट्रियों जैसी ही हालत थी। कम्पनी स्टाफ द्वारा गाली-गलौज, ज़बर्दस्ती ओवरटाइम लेना, ओवरटाइम का सिंगल रेट देना इत्यादि। हालाँकि मज़दूर इसे बर्दाश्त कर रहे थे। यह स्थिति सम्भवतः अभी चलती ही रहती परन्तु इसी बीच मन्दी के कारण इस इलाक़े में अन्य फ़ैक्ट्रियों में, ख़ासतौर पर कपड़ा बनाने की फ़ैक्ट्रियों में जहाँ ठेका-पीस रेट पर काम कर रहे असंगठित मज़दूरों की संख्या अधिक थी, काफ़ी छँटनी हुई। बर्तन बनाने की अन्य कम्पनियाँ मज़दूरों को आठ घण्टे के 2000-2200/- रुपये दे रही हैं।

इस स्थिति में मैगपाई के मालिक की भी जीभ लपलपाने लगी और मज़दूरों की छँटनी करके कम रेट पर मज़दूरों को रखने के लिए छटपटाने लगा। श्रम क़ानूनों के हिसाब से फ़ैक्ट्री मालिक को अपनी तरफ़ से मज़दूरों को निकालने पर तीन माह का अतिरिक्त वेतन देना पड़ता। जबकि मालिक अतिरिक्त वेतन के अलावा पीएफ के पैसे भी हड़प जाना चाहता है। लेकिन यूँ ही निकाल देने पर दिक़्क़त होती इसलिए उसने अलग रास्ता चुना। मज़दूरों को बार-बार अपमानित किया जाने लगा। रात में ओवरटाइम लगाने पर जो 55/- रुपये मिलते थे उसे घटाकर 25/- रुपये कर दिया गया। कटिंग, वेल्डिंग तथा पंचिंग डिपार्टमेण्ट के मज़दूरों ने विरोध किया तो इन डिपार्टमेण्टों से करीब 15-20 मज़दूरों को निकाल दिया गया और जबरन सबका हिसाब चुकता किया जाने लगा। मज़दूरों ने हिसाब लेने से मना कर दिया और संघर्ष पर उतर आये। निकाले गये मज़दूरों में 10 साल से काम करने वाले मज़दूर भी हैं।

निकाले गये रामराज, सलाउद्दीन, जोगिन्दर, गजेन्द्र, मिण्टू, प्रेमपाल, पप्पू महतो और रिषपाल आदि मज़दूरों के समर्थन में इसी फ़ैक्ट्री के तथा कुछ अन्य फ़ैक्ट्रियों के 50-60 मज़दूरों ने एकजुट होकर फ़ैक्ट्री गेट के सामने प्रदर्शन करना शुरू कर दिया। मामले को बढ़ता देखकर 6-7 दिन बाद मालिक ने 26 दिसम्बर 2008 को संजय तथा सन्तोष को बात करने के लिए बुलाया। अन्दर आने पर कारख़ाने का गेट बन्द करके मालिक के गुण्डे सन्तोष और संजय को मारने-पीटने और धमकाने लगे कि ज़्यादा नेता बनोगे तो भट्ठी में ज़िन्दा जला देंगे। संजय तो किसी तरह फ़ैक्ट्री की दीवार लाँघकर बाहर भाग आया जबकि सन्तोष को मालिक के गुण्डे पकड़ कर अन्दर मारपीट करने लगे। संजय द्वारा घटना की जानकारी मिलते ही मज़दूर नारे लगाते हुए पहले गेट पर इकट्ठे हुए फिर पास के थाने में एफआईआर दर्ज कराने भागे। वहाँ पुलिस वालों ने इसे दिखावटी रजिस्टर पर दर्ज कर लिया और मज़दूरों को धमकी के अन्दाज़ में हिदायत दी कि "शोर न करें" और फ़ैक्ट्री के पास जाकर चुपचाप खड़े हो जायें। मज़दूरों के पुनः फ़ैक्ट्री पहुँचने के बाद पुलिस वाले आये और मालिक के ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई करने के बजाय मसीहाई अन्दाज में यह कहते हुए फ़ैक्ट्री के अन्दर घुस गये कि शोर-शराबा मत करो और कि वे (पुलिसवाले) मालिक की कोई मदद नहीं करेंगे। मामले को उग्र होता देख मालिक के गुण्डों ने खुद ही सन्तोष को छोड़ दिया।

इस घटना के बाद मज़दूर ज़्यादा मजबूती से एकजुट हो गये और मालिक के ख़िलाफ़ संघर्ष के लिए कमर कसते हुए अपनी इन माँगों को दुहराया–
1. निकाले गये मज़दूरों को वापस काम पर लिया जाये। 2. ओवरटाइम का डबल रेट दिया जाये। 3. खाना खाने के लिए फिर से 55/- रुपये दिये जाये। 4. मज़दूरों के साथ गाली-गलौज तथा अपमानजनक बर्ताव बन्द किया जाये। 5. किसी भी डिपार्टमेण्ट का सुपरवाइजर अन्य किसी डिपार्टमेण्ट में मज़दूरों पर रोब गाँठने के लिए न जाये।

इसमें सीटू की यूनियन सक्रिय है, जिसके नेता आनन्द शर्मा इस पूरी घटना के बाद घटना-स्थल पर पहुँचे। सीटू शान्तिपूर्ण संघर्ष करते हुए श्रम क़ानून के अनुसार हिसाब दिलवाने के लिए मज़दूरों पर जोर डाल रही है।

ऐसी घटनाएँ भोरगढ़, बवाना तथा कुण्डली के फ़ैक्ट्री इलाकों में हो रही है। इस स्थिति में, आज जिन मज़दूरों का ईएसआई कार्ड, जॉब कार्ड है तथा पीएफ कटता है उनको यह समझना होगा कि 3665/- रुपये में उनको कोई खुशहाली नहीं मिल सकती। क्योंकि तेज़ी से बढ़ती महँगाई के दौर में 3665/- रुपये में तो ढंग से पेट भी नहीं भरा जा सकता। आज मज़दूरों को इस भ्रम से निकलना होगा कि उनका कार्ड बना है या वे कम से कम 2500/- वाले से तो बेहतर स्थिति में हैं। उन्हें तुलना इससे करनी चाहिए कि इस 3665/- देने के बाद उनसे किस अमानवीय तरीके से काम लिया जाता है और मालिक कितने गुना अधिक मुनाफ़ा बटोरता है। यहाँ बहुत सारी फ़ैक्ट्रियाँ 2000-2200 रुपये पर मज़दूरों को काम पर रखते समय लालच देती हैं कि छह महीने बाद जब उनका कार्ड बन जायेगा तो उनको 3665/- रुपये मिलने लगेंगे। जबकि होता यह है कि 5 महीने काम करवाने के बाद मालिक उसे फ़ैक्ट्री से निकाल बाहर करता है।

इसलिए काम के घण्टे कम करने, वेतन बढ़ाने, श्रम क़ानूनों द्वारा प्राप्त सुविधाओं की लड़ाई लड़ते हुए भी यह नहीं भूलना चाहिये कि मज़दूरों की सच्ची आज़ादी पूँजीवादी व्यवस्था के ख़ात्मे से ही सम्भव है। मज़दूरों को इस बात को ध्यान में रखते हुए मालिक वर्ग के ख़िलाफ़ व्यापक क्रान्तिकारी एकजुटता और संगठनबद्धता की तरफ बढ़ना ही होगा।

-प्रसेन

सत्यम कम्पनी के घोटाले में नया कुछ भी नहीं है...

घपलों-घोटालों-भ्रष्टाचार पर पनपते परजीवी पूँजीवाद का असली चेहरा ऐसा ही है!

नये साल की शुरुआत में सत्यम कम्प्यूटर्स नाम की देश की सबसे बड़ी आईटी कम्पनी के प्रमुख रामलिंगम राजू द्वारा किये गये 7,000 करोड़ रुपये के घोटाले ने मन्दी से डगमगाती भारतीय अर्थव्यवस्था को तगड़ा झटका दिया है। सत्यम कम्प्यूटर्स उन्हीं कम्पनियों में से एक है जो एक वास्तविक उत्पादन से अलग, ग़ैर-उत्पादक गतिविधियों के विराट कारोबार से बेहिसाब कमाई करती रही हैं। आज के पूँजीवाद का तीन-चौथाई से भी ज्यादा हिस्सा शेयर बाज़ार, बैंकिंग, बीमा जैसी वित्तीय गतिविधियों, मीडिया, मनोरंजन और तमाम किस्म की सेवाओं के कारोबार से चलता है। सत्यम, इन्फोसिस, विप्रो जैसी आईटी या साफ्टवेयर कम्पनियों के कारोबार का बड़ा हिस्सा भी इन्हीं ग़ैर-उत्पादक गतिविधियों के लिए होता है जो दुनिया की वास्तविक सम्पदा में कुछ भी इज़ाफ़ा नहीं करते।

वैसे तो पूँजीवाद ख़ुद ही एक बहुत बड़ी डाकेजनी के सिवा कुछ नहीं है लेकिन मुनाफ़ा कमाने की अन्धी हवस में तमाम पूँजीपति अपने ही बनाये क़ानूनों को तोड़ते रहते हैं। यूरोप से लेकर अमेरिका तक ऐसे अनगिनत उदाहरण हैं जो बिल्कुल साफ कर देते हैं कि पूँजीवाद में कोई पाक-साफ होड़ नहीं होती। शेयरधारकों को खरीदने-फँसाने, प्रतिस्पर्धी कम्पनियों की जासूसी कराने, रिश्वत खिलाने, हिसाब-किताब में गड़बड़ी करने जैसी चीजें साम्राज्यवाद के शुरुआती दिनों से ही चलती रहती हैं। सत्यम ने बहीखातों में फर्जीवाड़ा करके साल-दर-साल मुनाफ़ा ज्यादा दिखाने और शेयरधारकों को उल्लू बनाने की जो तिकड़म की है वह तो पूँजीवादी दुनिया में चलने वाला एक छोटा-सा फ्रॉड है। राजू पकड़ा गया तो वह चोर है – लेकिन ऐसा करने वाले दर्जनों दूसरे पूँजीपति आज भी कारपोरेट जगत के बादशाह और मीडिया की आँखों के तारे बने हुए हैं।

सत्यम कम्पनी के घोटाले में जितनी बातें सामने आयीं हैं वह तो पानी में तैरते विशाल हिमखण्ड का ऊपर दिखने वाला छोटा-सा हिस्सा भर है। इसकी सारी परतें तो सरकार भी उजागर नहीं करेगी। अगर ये पूरा घोटाला सामने आ गया तो वित्त (फाइनेंस) का सारा हवाई कारोबार ही चरमराकर बैठ जायेगा। कारोबार की थोड़ी भी समझ रखने वाला कोई आदमी इतना तो समझ ही सकता है कि इतना बड़ा गोरखधन्धा दो-चार व्यक्तियों का खेल नहीं हो सकता। आँकड़ों की हेराफेरी, सरकारी अधिकारियों-मंत्रियों आदि को मोटी घूस खिलाने से लेकर हर तरह के छल-छद्म का इस्तेमाल करके ही सत्यम कम्प्यूटर्स ने चन्द एक सालों में दुनिया भर में दसियों हजार करोड़ का कारोबार फैला दिया। आन्ध्र प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री चन्द्रबाबू नायडू और उनके धुर विरोधी वर्तमान मुख्यमंत्री वाई. राजशेखर रेड्डी दोनों से राजू के बहुत करीबी सम्बन्ध हैं जिसका वह जमकर फायदा उठाता रहा है। फिर भी पूरे मामले को इस तरह पेश किया जा रहा है जैसे ये एक "बिगड़े हुए" आदमी की गलतियों का नतीजा है। बार-बार यह बताया जा रहा है कि यह तो महज एक भटकाव है। क़ानून को सख़्ती से कार्रवाई करनी चाहिए ताकि दुनिया को यह पता लगे कि सारी कम्पनियाँ ऐसी ही नहीं हैं... वगैरह-वगैरह।

सत्यम कम्पनी और राजू ने जो कुछ किया उसमें कुछ भी अप्रत्याशित और चौंकाने वाला नहीं है। चन्द एक वर्षों में बेशुमार मुनाफ़ा कमाने वाली ज़्यादातर कम्पनियों की अन्दर की कहानी ऐसी ही है। सरकार से लेकर मीडिया तक इनका चेहरा चमकाने और इन्हें "चमकते भारत" के 'आइकन' बनाकर पेश करने में लगे रहते हैं। पूँजीवाद के अपने अन्दरूनी टकरावों की वजह से कभी-कभी इनमें से कुछ की असलियत सामने आ जाती है। कल तक जो राजू मीडिया का दुलारा और बिज़नेस स्कूलों का मॉडल था वह रातोंरात खलनायक बन जाता है और गर्दन पकड़कर जेल की सलाखों के पीछे धकेल दिया जाता है। पूँजीवाद के नायक स्थायी नहीं हुआ करते। आज जो जगमगाते सितारे हैं कल वे गन्दगी के ढेर में पड़े दिखायी देते हैं।

ऐसी घटनाएँ पूँजीवाद के असली परजीवी चरित्र को उजागर करती हैं। ये अन्दर से खोखली और सड़ चुकी पूँजीवादी व्यवस्था की बदबूदार सच्चाई को लोगों के सामने ला देती हैं। ये एक बार फिर प्रसिद्ध लेखक बाल्ज़ाक की इस उक्ति को सही साबित करती हैं कि हर सम्पत्ति साम्राज्य अपराध की बुनियाद पर खड़ा होता है।

मध्यवर्ग का एक भारी हिस्सा सत्यम कम्पनी के घोटाले पर हाय-तौबा मचा रहा है। ये वे लोग हैं जो पूँजीवाद की बहती गंगा में डुबकी तो मारना चाहते हैं लेकिन उसमें बहते मैले से छू जाने पर छी-छी करने लगते हैं। बिना कुछ किये शेयर बाज़ार में मुनाफ़ा कमाने की टुच्ची हवस में जब तक इन्हें कमाई होती रहती है तब तक ये पूँजी और बाज़ार की महिमा गाते रहते हैं लेकिन जैसे ही किसी घपले-घोटाले में इनकी पूँजी डूबती है तो ये कांय-कांय चिल्लाने लगते हैं। पूँजीवाद की अन्धी दौड़ में घुसे छुटभैयों के साथ ऐसा अक्सर ही होता रहता है। मन्दी के दौर में ऐसी घटनाएँ और बढ़नी ही हैं। सर्वहारा के दृष्टिकोण से इनकी बस खिल्ली ही उड़ायी जा सकती है। ये तथाकथित "छोटे निवेशक" सहानुभूति नहीं नफ़रत के हकदार हैं!

ऐसी घटनाएँ बुर्जुआ न्याय के असली वर्ग चरित्र को भी नंगा कर देती हैं। हज़ारों करोड़ का चूना लगाने वाले राजू और उसके अपराध में भागीदार लोगों को कोई तक़लीफ़ न हो, इसका ख्याल पुलिस भी रख रही है, उनकी पैरवी के लिए वकीलों की पूरी फौज खड़ी हो जायेगी और हो सकता है कि कुछ सज़ा और कुछ जुर्माने के बाद वे बच भी जायें। उनकी अरबों की सम्पत्ति तो बनी ही रहेगी। दूसरी ओर अगर अपने बच्चों की भूख और बीमारी से बचाने के लिए कोई गरीब दस रुपये की भी चोरी कर ले तो उसे पीट-पीटकर सड़क पर ही मार डाला जायेगा या फौरन जेल के सीखचों में कैद कर दिया जायेगा।

पूँजीवाद की क़ब्र खोदने के लिए कमर कसकर तैयार हो जाओ!

(पेज 1 का शेष)

से उबर जाने के बाद भी पूँजीवाद के खुशहाल दिनों की वापसी नहीं होने वाली है। खुद पूँजीवादी विचारक भी ऐसी कोई उम्मीद नहीं पाल रहे हैं। कुछ ही समय पहले तक पूँजीवाद को अजर-अमर व्यवस्था बताने वालों की घिग्घी बँध गयी है और उन्हें कुछ भी सूझ नहीं रहा है। पूँजीवाद के आज के सबसे बड़े विचारकों में से एक, फ्रांसिस फ़ुकोयामा, जो कुछ साल पहले इतिहास के अन्त का फतवा देते हुए पूँजीवाद की अन्तिम विजय की उद्घोषणा कर रहा था, आज पूँजीवाद को निरुपाय बताते हुए जनक्रान्तियों का ख़तरा मँडराते हुए देख रहा है।

सिर्फ़ आर्थिक ही नहीं, राजनीतिक तौर पर भी पूँजीवाद का संकट बढ़ता जा रहा है। अमेरिका के ठीक पिछवाड़े लातिन अमेरिका में साम्राज्यवाद विरोधी लहर जारी है जहाँ एक के बाद एक देशों में ऐसी ताक़तें सत्ता में आयी हैं, जो किसी न किसी रूप में साम्राज्यवादी हितों पर चोट पहुँचा रही हैं। इन लोकप्रिय आन्दोलनों और सत्ताओं का राजनीतिक चरित्र भले ही मध्यवर्गीय हो, लेकिन इनके पीछे शक्ति मेहनतकश अवाम की है। इसके साथ जिस दिन सर्वहारा विचारधारा का मेल हो जायेगा, उस दिन इसके चमत्कारी परिणाम सामने आयेंगे। लातिनी अमेरिका में मेहनतकशों के आन्दोलन भी मौजूद हैं और क्रान्तिकारी विचार भी। प्रश्न यह है कि वहाँ के क्रान्तिकारी साम्राज्यवाद की कार्यपद्धति में आये नये बदलावों को समझकर नयी रणनीति बनाने का काम कितनी कुशलता के साथ करते हैं।

अफ्रीका में एक ओर तेल और कच्चे माल के लिए ललचाये साम्राज्यवादियों की नज़र फिर से गड़ी हुई है वहीं दूसरी लम्बी शीतनिद्रा के बाद एक बार फिर अफ्रीका महाद्वीप नये सिरे से वर्गसंघर्ष के लिए करवट लेने के संकेत दे रहा है। उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ मुक्तियुद्धों का नेतृत्व करने वाले नेताओं का नायकत्व खण्डित हो जाने और आज़ाद हुए देशों के विश्व-पूँजीवादी तन्त्र में समायोजित हो जाने के बाद जनता के मोहभंग और निराशा का लम्बा दौर अब ख़त्म होता दिख रहा है। नाइजीरिया से लेकर अल्जीरिया तक, तंज़ानिया से लेकर दक्षिण अफ्रीका तक मेहनतकशों के रैडिकल संघर्षों की ख़बरें मिल रही हैं।

एशिया में दुनिया के दो सबसे बड़े देश चीन और भारत आने वाले दशक में क्रान्ति के तूफ़ानों का केन्द्र बन सकते हैं। पश्चिम एशिया में साम्राज्यवादी चाहे जितनी बर्बरता से हमले करें, वे हर दिन वहाँ ज़्यादा से ज़्यादा फँसते जा रहे हैं। अरब जनता की नफ़रत की बाढ़ में एक दिन उन्हें डूब कर मरना ही है। चीन में मज़दूरों -किसानों की बढ़ती तबाही और बदहाली के बीच से युवा मज़दूरों में बढ़ती वर्ग चेतना और पुरानी पीढ़ी के मेहनतकशों तथा बुद्धिजीवियों के बीच से उभरती संगठित क्रान्तिकारी कोशिशें चीन के नये पूँजीवादी शासकों के लिए परेशानी का सबब बनती जा रही हैं।

कहने की ज़रूरत नहीं कि विश्व पूँजीवाद का गहराता आर्थिक और राजनीतिक संकट एक अनुकूल क्रान्तिकारी परिस्थिति तैयार कर रहा है। दुनिया के हालात पुकार-पुकार कर क्रान्तिकारियों से अपना कठमुल्लापन छोड़कर खुले दिमाग से नयी सच्चाइयों को समझने और नयी चुनौतियों से जूझने के रास्ते निकालने के लिए कह रहे हैं। अगर कोई भी व्यक्ति विज्ञान से दुश्मनी करने की न ठान चुका हो, तो उसे यह स्वीकार करने में कोई झिझक नहीं होगी कि देश-दुनिया की परिस्थितियों में ऐसे व्यापक बदलाव आ चुके हैं जिन्हें पुराने उसूली चौखटों में कसकर नहीं समझा जा सकता। क्रान्तिकारी सिद्धान्तों की बुनियादी शिक्षाओं को आत्मसात करके उनकी रोशनी में आज की नयी समस्याओं का अध्ययन करना होगा और साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी नयी समाजवादी क्रान्तियों की वैचारिक और रणनीतिक तैयारी करनी होगी।

भारत के क्रान्तिकारियों को भी अपनी रूढ़ सोच और अतीतग्रस्तता से मुक्त होकर आज की चुनौतियों और सामने उपस्थित सवालों का साहस के साथ सामना करना होगा। उन्हें समझना होगा कि यह पूँजीवाद का ढाँचागत संकट ही है जो उद्योग, कृषि, वित्त हर क्षेत्र को संकटग्रस्त किये हुए है। उन्हें पुरानी क्रान्तियों के कार्यक्रम सम्बन्धी चौखटे से बाहर निकलकर नये सामाजिक यथार्थ को पहचानना होगा। हम समझते हैं कि बीत चुकी क्रान्तियों की शिक्षाओं की याददिहानी की जानी चाहिए, उनके अनुभवों का निचोड़ लेकर आगे के सबक निकाले जाने चाहिए लेकिन पिछली क्रान्तियों की उँगली पकड़कर नहीं चला जा सकता। यह एक दुखद सच्चाई है कि ज़्यादातर क्रान्तिकारी संगठनों का नेतृत्व अब पुरानी लीक पर क़दमताल करते हुए बस वक़्त काटने का काम कर रहा है। क्रान्तिकारी शिविर मुख्यत: और मूलत: क्षरित और विघटित हो चुका है और एक नयी क्रान्तिकारी पार्टी का निर्माण करने के लिए नये क्रान्तिकारी तत्वों की भरती, तैयारी और प्रशिक्षण का काम आज बेहद अहम बन गया है। इसी के साथ हमें नये सर्वहारा पुनर्जागरण और नये सर्वहारा प्रबोधन के वैचारिक- राजनीतिक कार्यभारों को भी पूरा करना होगा। हमें अतीत की क्रान्तियों के अनुभवों और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक उपलब्धियों को लोगों के सामने लाना होगा और साथ ही दुनिया भर में आर्थिक मूलाधार और अधिरचना के दायरों में हुए व्यापक बदलावों का अध्ययन करके क्रान्ति के सिद्धान्त और व्यवहार को आगे विस्तार देना होगा। ज़ाहिर है, ये तमाम काम अध्ययन कक्षों और पुस्तकालयों में बैठकर नहीं किये जा सकते बल्कि सामाजिक प्रयोगों और जनता के संघर्षों के बीच रहकर और उनसे सीखते हुए ही इन्हें पूरा किया जा सकता है।

आज देश की 84 करोड़ ग़रीब आबादी 20 रुपये रोज़ पर गुज़ारा करने के लिए मजबूर है। 40 करोड़ से भी अधिक मज़दूर आबादी में से करीब 95 प्रतिशत असंगठित मज़दूर हैं। ग्रामीण और शहरी अर्द्धसर्वहारा आबादी को जोड़ लिया जाये तो मेहनतकशों की तादाद 60 करोड़ से भी ऊपर हो जायेगी। लेकिन यह विशाल आबादी आज राजनीतिक रूप से असंगठित, बिखरी हुई और हताश है। उसे अपनी ताक़त का भी अहसास नहीं है।

दूसरा पहलू यह है कि मज़दूरों का प्रतिनिधि होने का दम भरने वाले नक़ली वामपन्थी ज़्यादा से ज़्यादा नंगे होते जा रहे हैं और बुर्जुआ राजनीति की गन्दगी में और गहरे धँसते जा रहे हैं। वर्तमान मन्दी और गहराता आर्थिक संकट एक ओर मज़दूरों की तबाही और बदहाली को और बढ़ायेगा, तो दूसरी ओर नकली वामपन्थियों, ट्रेडयूनियनवाद और अर्थवाद से उनके मोहभंग को बढ़ाने की स्थितियाँ भी पैदा करेगा। ऐसे में यह कहना गलत नहीं कि पूँजीवाद को उखाड़ फेंकने के लिए मेहनतकश अवाम को संगठित करने की परिस्थितियाँ दिन-ब-दिन ज़्यादा अनुकूल होती जा रही हैं। समस्या क्रान्तिकारी शक्तियों की तैयारी की है। उन्हें व्यवस्था के संकट को क्रान्तिकारी संकट में तब्दील करना सीखना होगा। देश में क्रान्तिकारी उभार की ज़मीन पूँजीवाद खुद तैयार कर रहा है। बेशक यह चन्द एक वर्षों की बात नहीं है लेकिन 2008 में घटी घटनाओं ने इसकी दिशा का संकेत दे दिया है।

वैसे तो हर नया साल नये सिरे से शपथ लेने और नये संकल्प बाँधने का मौका होता है लेकिन गुज़रे हुए साल ने हमें जिन हालात में छोड़ा है, वे हमसे माँग कर रहे हैं कि हम सच्ची क्रान्तिकारी भावना के साथ 2009 के एक-एक पल को नये इंक़लाब की तैयारी में लगा देने के लिए कमर कस लें। कवि वेणुगोपाल के शब्दों में

न हो कुछ भी
सिर्फ़ सपना हो
तो भी हो सकती है शुरुआत
और यह एक शुरुआत ही तो है
कि वहाँ एक सपना है...

और आज तो हमारे पास न सिर्फ़ सपना है, बल्कि एक स्पष्ट दिशा भी है। हम इस नये साल की शुरुआत के मौक़े पर तमाम मेहनतकश साथियों का आह्वान करते हैं कि इन्सान का ख़ून पीकर ज़िन्दा रहने वाली इस जालिम व्यवस्था को नेस्तनाबूद करने के लिए उठ खड़े हों। ●

विश्वव्यापी खाद्य संकट की “ख़ामोश सुनामी” जारी है...

मगर वित्तीय महामन्दी के शोर में इस पर किसी का ध्यान नहीं

पिछले दो वर्षों के दौरान दुनिया भर में खाद्य संकट से प्रभावित करोड़ों ग़रीब लोगों का पेट भरने के लिए सरकारों के पास पैसे नहीं थे पर आज वित्तीय क्षेत्र के मुनाफ़ाख़ोर दैत्यों को बचाने के लिए अरबों डॉलर बहाये जा रहे हैं...

आर्थिक महामन्दी के हो-हल्ले, बैंकों को ढहने और दैत्याकार वित्तीय कम्पनियों को धराशायी होने से बचाने के लिए दिये जा रहे ‘बेलआउट पैकेजों’ और रियायतों के ब्यौरों, गिरते शेयर बाज़ार की खबरों ने दुनियाभर में अब भी जारी भीषण खाद्य संकट को मानो आँख से ओझल कर दिया है। लेकिन यह “ख़ामोश सुनामी” लगातार जारी है और करोड़ों ग़रीबों को धीमी मौत की ओर धकेल रही है।

अभी पिछले साल के मध्य तक सरकारों से लेकर मीडिया तक, अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं से लेकर गली के एनजीओ तक सभी शोर मचा रहे थे कि अब तक का सबसे अभूतपूर्व, भीषण खाद्य संकट दुनिया भर में फैल रहा है। उनके मुताबिक यह समस्या माँग और आपूर्ति के असन्तुलन से पैदा हुई है और अगर जल्दी इसका कोई समाधान नहीं निकला तो करोड़ों लोग भुखमरी के शिकार हो जायेंगे और तीसरी दुनिया के देशों में खाने के लिए दंगे भड़क उठेंगे। लेकिन अब अचानक इस भीषण समस्या की चर्चा ही बन्द हो गयी है। न मीडिया में इसकी खबरें आती हैं और न सरकारी योजनाओं में इससे निपटने के लिए कोई उपाय किये जा रहे हैं। क्या वाकई यह कोई समस्या ही नहीं थी या इस समस्या का समाधान हो गया? जी नहीं, सच तो यह है कि विश्वव्यापी खाद्य संकट अब भी बना हुआ है और आने वाले समय में बद से बदतर ही होता जायेगा।

दुनिया के पैमाने पर खाने-पीने की चीज़ों और पेट्रोल की क़ीमतें पिछले दो साल से बढ़ रही थीं और 2008 के शुरुआती कुछ महीनों में तो वे आसमान छूने लगीं। लेकिन पिछले साल के मध्य से ही अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में तेल और खाद्य दोनों की क़ीमतें गिरने लगीं और अब तो वे एक साल पहले के स्तर से भी नीचे पहुँच गयी हैं। इसलिए बहुतेरे विश्लेषकों ने मान लिया कि खाद्यान्न संकट अब बीत गया है।

जब खाद्य वस्तुओं की कीमतें बढ़ रही थीं तो कहा जा रहा था कि माँग बढ़ने के कारण ऐसा हुआ है। अमेरिकी राष्ट्रपति बुश ने तो कह दिया कि चीन और भारत में लोगों की आमदनी बढ़ने के कारण माँग बढ़ गयी है। वित्तमन्त्री चिदम्बरम ने भी इसमें सुर मिलाते हुए फ़र्माया कि देश में खुशहाली बढ़ने से लोग अब ज्यादा खा-पी रहे हैं इसलिए दाम बढ़ रहे हैं। यह कितना बेहूदा तर्क था इसे इस बात से समझा जा सकता है कि चीन और भारत दोनों में ही प्रति व्यक्ति खाद्य की खपत में कमी आयी है। दोनों देशों में आबादी का एक छोटा-सा ऊपरी तबका बेहिसाब खा और बर्बाद कर रहा है लेकिन भारी ग़रीब आबादी मुश्किल से पेट भर पा रही है। भारत में 84 करोड़ लोग सिर्फ 20 रुपये रोज़ पर गुज़ारा करते हुए मुश्किल से जीने लायक खा पाते हैं। बहरहाल, माँग और आपूर्ति में कोई विशेष कमी-बेशी न होने पर भी खाद्य क़ीमतों में आयी गिरावट यह साफ़ कर देती है कि दामों में हुई भारी बढ़ोत्तरी मुनाफ़ाखोरी और सट्टेबाजी का ही नतीजा थी।

सबसे बड़ी बात यह है, जिस पर अब किसी का ध्यान नहीं है, कि अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार की क़ीमतों में गिरावट के बावजूद खाद्य संकट बना हुआ है। अब इस समस्या की वजह अनाज की कमी नहीं है – बाज़ार में खाने-पीने का हर सामान मौजूद है लेकिन उसे खरीदने के लिए ग़रीबों के पास पैसे नहीं हैं। एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के ज़्यादातर देशों के ग़रीब लोगों के लिए यह समस्या और भी गम्भीर होने वाली है।

दुनिया के पैमाने पर आज खेती संकट में है। पूँजीवाद में उद्योग के मुकाबले खेती का पिछड़ना तो लाज़िमी ही होता है लेकिन भूमण्डलीकरण के दौर की नीतियों ने इस समस्या को और गम्भीर बना दिया है। अमीर देशों की सरकारें अपने फार्मरों को भारी सब्सिडी देकर खेती को मुनाफ़े का सौदा बनाये हुए हैं। लेकिन तीसरी दुनिया के देशों में सरकारी उपेक्षा और पूँजी की मार ने छोटे और मझोले किसानों की कमर तोड़ दी है। साम्राज्यवादी देशों की एग्रीबिजनेस कम्पनियों और देशी उद्योगपतियों की मुनाफ़ोखोरी से खेती की लागतें लगातार बढ़ रही हैं और बहुत बड़ी किसान आबादी के लिए खेती करके जी पाना मुश्किल होता जा रहा है। इसका सीधा असर उन देशों में खाद्यान्न उत्पादन पर पड़ रहा है।

दूसरे, वैश्विक पैमाने पर खेती का कारोबार चन्द दैत्याकार कम्पनियों के कब्जे में आ चुका है जो खाद-बीज-कीटनाशक और मशीनों जैसे खेती के साधनों से लेकर फसलों के व्यापार तक को नियन्त्रित करती हैं। यही कम्पनियाँ इथेनॉल के उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए सरकारी सब्सिडी का भी फ़ायदा उठा रही हैं। इसका नतीजा यह हो रहा है कि खाद्यान्न की खेती के लिए तय जमीनों का इस्तेमाल अमीरों की कारें दौड़ाने के लिए इथेनॉल के उत्पादन में किया जा रहा है। इन कम्पनियों के एकाधिकार का ही नतीजा है कि पिछले चार-पाँच महीनों में विश्व बाज़ार में खाद्य कीमतों में गिरावट के बावजूद तीसरी दुनिया के ज्यादातर देशों में खुदरा कीमतों में कुछ खास कमी नहीं आयी है। हिन्दुस्तान में भी सरकारी आँकड़ों के मुताबिक तो महँगाई लगातार कम हो रही है लेकिन रोज़-रोज़ कमाकर खाने का जुगाड़ करने वाला हर ग़रीब, मेहनतकश इन्सान जानता है कि इन आँकड़ों की सच्चाई क्या है।

सबसे बड़ा कारण यह है कि मेहनतकश जनता की मज़दूरी में लगातार आ रही गिरावट के कारण उसकी खरीदने की शक्ति कम होती जा रही है। देश की अर्थव्यवस्था जब चमक रही थी और कुलाँचे मारते हुए आगे बढ़ रही थी तब भी आम मेहनतकश आबादी की वास्तविक आमदनी में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई थी। दिहाड़ी पर काम करने वाली 40 करोड़ आबादी आज से 10 साल पहले जितना कमाती थी आज भी बमुश्किल उतना ही कमा पाती है जबकि कीमतें दोगुनी-तीन गुनी हो चुकी हैं। भारी अर्द्धसर्वहारा आबादी और निम्नमध्यवर्गीय आबादी को भी पेट भरने के लिए अपनी ज़रूरतों में कटौती करनी पड़ रही है। अब मन्दी के दौर में उनकी हालत और भी खराब होने वाली है।

आने वाले समय में ये तमाम स्थितियाँ बद से बदतर होती जायेंगी। पूँजीवाद जिस गम्भीर ढाँचागत संकट का शिकार है, उसके चलते खेती को संकट से उबारने के लिए निवेश कर पाने की सरकारों की क्षमता कम होती जायेगी। ग़रीबों को सस्ता अनाज उपलब्ध कराने की योजनाओं में तो पहले से ही कटौती की जा रही थी, अब मन्दी के दौर में इन पर कौन ध्यान देगा? जो सरकारें ग़रीबों को सस्ती शिक्षा, इलाज, भोजन मुहैया कराने के लिए सब्सिडी में लगातार कटौती कर रही थीं, वे ही अब बेशर्मी के साथ जनता की गाढ़ी कमाई के हज़ारों करोड़ रुपये पूँजीपतियों को घाटे से बचाने के लिए बहा रही हैं। मन्दी का रोना रोकर अरबों रुपये की सरकारी सहायता बटोर रहे धनपतियों की अय्याशियों, जगमगाती पार्टियों और फिजूलखर्चियों में कोई कमी नहीं आने वाली, लेकिन ग़रीब की थाली से रोटियाँ भी कम होती जायेंगी, सब्ज़ी और दाल तो अब कभी-कभी ही दिखती हैं।

जर्मन कवि बेर्टोल्ट ब्रेष्ट के शब्द याद आते हैं –

गर थाली आपकी खाली है
तो सोचना होगा
कि खाना कैसे खाओगे
ये आप पर है कि
पलट दो सरकार को उल्टा
जब तक कि खाली पेट नहीं भरता...

– सत्यप्रकाश

मन्दी की मार से करोड़ों मज़दूरों के रोज़गार पर असर

(पेज 1 का शेष)

दर्ज़ कर रहा है। नारियल उद्योग में 32,000 लोग अपनी नौकरियों से हाथ धोने की कगार पर हैं। हथकरघा उद्योग में 20 प्रतिशत की गिरावट आ चुकी है, काजू उद्योग में 18,000 लोग अपनी नौकरियाँ गँवा चुके हैं। 2008 के अन्त तक बैंक, बीमा और सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में कई लाख नौकरियाँ कम हो चुकी हैं। सामाजिक क्षेत्र की भी स्थिति बुरी है। भारत के पर्यटन उद्योग के एक प्रमुख अंग होटल व रेस्तराँ सेक्टर को भारी नुकसान उठाना पड़ा है। पर्यटकों के आने की वृद्धि दर मार्च के 14.6 प्रतिशत से घटकर अप्रैल में 9.6 प्रतिशत रह गयी। और अक्टूबर आते-आते यह दर 1.8 प्रतिशत तक पहुँच चुकी थी।

मन्दी के असर का अन्दाज़ा सिर्फ़ आँकड़ों से नहीं लगाया जा सकता। भारत में अनौपचारिक क्षेत्र में उद्योगों का एक विशाल ताना-बाना मौजूद है जिसमें फ़ैक्टरियों और वर्कशॉपों को देखकर कहीं भी ऐसा नहीं लगेगा कि वे वैश्विक असेम्बली लाइन से जुड़ी हुई हैं। लेकिन कुकर, मोटरसाइकिल, स्कूटर से लेकर कम्प्यूटर, जनरेटर व अन्य इलेक्ट्रिक व इलेक्ट्रॉनिक सामानों के पुरज़ों को बनाने का काम इन कारखानों में होता है। ऐसे कारखाने दिल्ली राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र से लुधियाना, मुम्बई, अहमदाबाद और सूरत तक के क्षेत्र में फैले हुए हैं जिनमें करोड़ों की संख्या में मेहनतकश आबादी काम कर रही है। अब माँग कम होने के साथ ही उत्पादन में कटौती शुरू हो गयी है और इसी के साथ छँटनी और तालाबन्दी की प्रक्रिया भी शुरू हो गयी है। इसके अलावा निर्यात के लिए उत्पादन के क्षेत्र में करोड़ों मेहनतकश काम कर रहे हैं। दिसम्बर में आई सरकारी रिपोर्ट में बताया गया है कि भारत के निर्यात क्षेत्र में 1000 करोड़ रुपये की भारी कमी 2008 के दौरान दर्ज़ की गयी है। अनुमान लगाया जा रहा है कि केवल निर्यात क्षेत्र में एक करोड़ से भी ज़्यादा लोग बेरोज़गार हो जायेंगे। हथकरघा से लेकर छोटी-छोटी उपभोक्ता सामग्रियाँ बनाने वाले तमाम उद्योग और स्वरोजगार प्राप्त श्रमिक तबाह हो रहे हैं।

रिपोर्टों और आँकड़ों की बात छोड़ दें, किसी भी औद्योगिक इलाके में एक चक्कर लगाने से ही अनुमान चल जायेगा कि मज़दूरों के लिए रोज़गार की हालत कितनी गम्भीर है। दिल्ली और इसके आसपास झिलमिल, बवाना, नरेला, बादली, नरैना, ओखला, नोएडा, साहिबाबाद के कारख़ाना गेटों पर लटके रहने वाले ‘हेल्पर चाहिए’ या ‘वर्करों की जरूरत है’ जैसे बोर्ड अब दिखायी नहीं पड़ते।

एक रिपोर्ट के अनुसार घरेलू बाज़ार का आकार भी काफ़ी सिकुड़ गया है। मध्यवर्गीय उपभोक्ता ख़रीदारी में 2008 में 30 प्रतिशत की गिरावट दर्ज़ की गयी है। दूसरी ओर, बड़ी पूँजी वाले खुदरा व्यापार को भी भारी संकट का सामना करना पड़ रहा है और तमाम विशेष आर्थिक क्षेत्रों से खुदरा व्यापार की कम्पनियों ने हाथ खींच लिये हैं। कई शॉपिंग मॉल सूने पड़े हैं और बहुत-सी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की दुकानों के आगे सेल के बोर्ड लटक गये हैं। जाहिर है, इसका असर भी निचले स्तरों के तमाम रोज़गारों पर पड़ेगा।

लेकिन पूँजीपतियों को राहत देने के लिए एक के बाद एक अरबों रुपये की सहायता और रियायतों के पैकेजों की घोषणा करने वाली सरकार के पास मज़दूरों को मन्दी की मार से बचाने के लिए कोई उपाय नहीं है। उनके लिए सिर्फ़ लुभावने वायदे हैं। अगले कुछ महीनों में लोकसभा चुनाव होने वाले हैं। मन्दी और महंगाई का असली कहर तो उसके बाद जनता पर टूटेगा। मेहनतकशों को अभी से इन हालात से जूझने और संगठित होकर लड़ने की तैयारी शुरू कर देनी चाहिए।

बोलते आँकड़े चीखती सच्चाइयाँ

– हर हिन्दुस्तानी पर इस वक़्त 194 डॉलर यानी करीब 9500 रुपये का विदेशी कर्ज़ है। अगर इसमें आन्तरिक कर्ज भी जोड़ दिया जाये तो यह रकम करीब 33,000 रुपये हो जायेगी।

– पिछले वर्ष जून तक देश पर कुल विदेशी कर्ज 10,65,600 करोड़ (10 लाख 65 हजार 600 करोड़) रुपये तक पहुँच चुका था। पिछले पाँच वर्ष में यह लगभग दो गुना हो चुका है।

– 30 जून, 2008 को सरकार पर कुल आन्तरिक कर्ज 29,39,237 करोड़ रुपये था जोकि 2003-2004 के 16,90,554 करोड़ से लगभग दो गुना ज्यादा था।

– देश में आज लगभग एक लाख अरबपति हैं। देश के सबसे बड़े दस खरबपति हर मिनट दो करोड़ रुपये कमाते हैं। 2006 में दुनिया के 946 खरबपतियों में से 36 भारतीय थे।

– देश की ऊपर की दस प्रतिशत आबादी के पास कुल परिसम्पित्ति का 85 प्रतिशत इकट्ठा हो गया है जबकि नीचे की साठ प्रतिशत आबादी के पास मात्र दो प्रतिशत है। ऊपर के 0.01 प्रतिशत लोगों की आमदनी पूरी आबादी की औसत आमदनी से दो सौ गुना अधिक हो गयी है।

– देश के 84 करोड़ लोग 20 रुपये रोज़ाना से कम पर और उनमें से 22 प्रतिशत लोग क़रीब साढ़े ग्यारह रुपये रोज़ाना की आमदनी पर जीते हैं। पूरे देश में 18 करोड़ लोग झुग्गियों में रहते हैं और 18 करोड़ लोग फुटपाथों पर सोते हैं।

– देश की ऊपर की तीन फ़ीसदी और नीचे की 40 प्रतिशत आबादी की आमदनी के बीच का अन्तर आज 60 गुना हो चुका है।

– देश में प्रतिदिन 9000 बच्चे भूख और कुपोषण से मरते हैं। 5 साल से कम उम्र के बच्चों की मौत के 50 फीसदी मामलों का कारण कुपोषण होता है। देश के हर तीसरे व्यक्ति, यानी 35 करोड़ लोगों को प्रायः भूखे सोना पड़ता है।

गाज़ा पट्टी में बर्बर इज़रायली हमला

फ़िलिस्तीनी जनता का प्रतिरोध कुचला नहीं जा सकता

हर हमला अरब जनता में साम्राज्यवाद से नफ़रत की आग को और तेज़ करेगा...

पिछले साल के आखिरी हफ्ते में इज़रायल ने फ़िलिस्तीन की गाज़ा पट्टी में ज़बर्दस्त हवाई हमले शुरू किये और यह टिप्पणी लिखे जाने तक उसकी सेना गाज़ा पट्टी में घुसकर क़त्लेआम मचाये हुए थी। इज़रायली हमले में अब तक 850 से ज़्यादा लोग मारे जा चुके हैं जिनमें ज़्यादातर आम नागरिक, बच्चे और महिलाएँ हैं। इज़रायली हमलावरों ने स्कूलों और अस्पतालों तक को नहीं छोड़ा है। करीब 4,000 लोग बुरी तरह घायल हैं। महीनों से जारी इज़रायली प्रतिबन्धों और घेरेबन्दी के कारण गाज़ापट्टी में दवाओं और बच्चों के दूध जैसी चीजों की पहले से भारी कमी है। बिजली और पानी तक मुश्किल से मिल रहा है। ऐसे में मरने वालों की तादाद और भी तेजी से बढ़ रही है।

पूरा साम्राज्यवादी मीडिया इज़रायल के इस नंगे झूठ का भोंपू बना हुआ है कि उसने यह हमला "आत्मरक्षा" के लिए किया है। फ़िलिस्तीनी संगठन हमास द्वारा इज़रायल में दागे जाने वाले रॉकेटों से ख़ुद को बचाने के लिए ही उसे मजबूरन दुधमुँहे बच्चों, बूढ़ी औरतों और अस्पतालों में भरती मरीजों की जान लेनी पड़ रही है। हमारे देश का मीडिया भी इसी सुर में सुर मिला रहा है या फिर इस भयानक हत्याकाण्ड को मामूली-सी खबर के तौर पर पेश कर रहा है। आतंकवाद के नाम पर दिनों-रात युद्धोन्माद और अन्धराष्ट्रवादी भावनाएँ भड़काने में लगे इलेक्ट्रॉनिक मीडिया को इज़रायल का यह सरकारी आतंकवाद नज़र नहीं आ रहा है।

सच्चाई यह है कि हमास ने पिछले कई सप्ताह में जो रॉकेट दागे हैं उनसे 12 या 13 इज़रायलियों की मौत हुई है और कुछ लोग घायल हुए हैं।

इज़रायल का आरोप है कि संघर्ष-विराम तोड़कर हमास ने रॉकेटों से हमला किया। लेकिन सच्चाई क्या है? सच यह है कि फ़िलिस्तीनी जनता के ज़बर्दस्त संघर्ष और पूरी दुनिया की जनता के दबाव में 2005 में गाज़ा पट्टी से अपनी सेना हटा लेने के बाद से इज़रायल ने एक दिन भी गाज़ावासियों को चैन से जीने नहीं दिया है। सेना हटाने के बाद भी ज़मीन, हवाई और समुद्री रास्ते से इज़रायल गाज़ा पट्टी पर अपना नियन्त्रण रखे हुए था। बीच-बीच में उसके हमले जारी थे। 2007 में लेबनान पर हमले के ठीक पहले इज़रायल ने गाज़ा पट्टी में भीषण बमबारी की थी। पिछले वर्ष 5 नवम्बर को इज़रायली सेना ने हमास के 5 कार्यकर्ताओं की हत्या कर दी थी। नवम्बर से ही इज़रायल ने अपनी घेरेबन्दी और सख़्त करते हुए गाज़ा पट्टी में बुनियादी ज़रूरत की चीजों की सप्लाई लगभग बन्द कर दी थी। संयुक्त राष्ट्र द्वारा आगाह किये जाने का भी इज़रायल पर कोई असर नहीं हुआ क्योंकि दुनिया के सबसे बड़े गुण्डे अमेरिका का हाथ उसकी पीठ पर है।

'बिगुल' के पाठकों के लिए फ़िलिस्तीनी समस्या और वहाँ की जनता के संघर्ष का विस्तृत ब्यौरा हम पहले कई अंकों में देते रहे हैं, पर संक्षेप में यहाँ इतना बता देना काफ़ी होगा कि पश्चिम एशिया के एक छोटे-से इलाके में इज़रायल और फ़िलिस्तीन दो राष्ट्र हैं। यहूदी मूल के लोग इज़रायल से निकलकर पूरी दुनिया में फैले थे। दूसरे महायुद्ध में फासिस्टों द्वारा यहूदियों के क़त्लेआम के बाद उनकी इस माँग को व्यापक समर्थन मिला कि उन्हें अपनी मूल धरती में अपना देश बसाने दिया जाये। उस वक़्त हुए समझौते के मुताबिक वहाँ दो देश बनाये गये – इज़रायल और फ़िलिस्तीन। इज़रायल में मुख्यत: वहाँ रह रही यहूदी आबादी और बाहर से आये यहूदी शरणार्थी बसने थे जबकि फ़िलिस्तीन उस क्षेत्र की अरब जनता का देश था। लेकिन इज़रायल ने फौरन ही फ़िलिस्तीनियों को खदेड़कर उनकी ज़मीन पर क़ब्ज़ा करना शुरू कर दिया और पूरी दुनिया से लाकर अमीर यहूदियों को वहाँ बसाने लगा। पाँच दशकों तक अपने वतन से दरबदर फ़िलिस्तीनी जनता के लम्बे संघर्ष के बाद उन्हें कटी-पिटी हालत में अपने देश का एक छोटा-सा टुकड़ा मिला। आज का फ़िलिस्तीन एक-दूसरे से अलग जमीन की दो छोटी-छोटी पट्टियों पर बसा है। एक है पश्चिमी तट का इलाका और दूसरा है गाज़ा पट्टी जहाँ सिर्फ 360 वर्ग किलोमीटर के दायरे में 15 लाख आबादी रहती है। फ़िलिस्तीनी मुक्ति संगठन (पीएलओ) के नेतृत्व के समझौतापरस्त हो जाने के बाद धार्मिक कट्टरपन्थी संगठन हमास ने फ़िलिस्तीनी जनता में अपनी जड़ें जमा ली हैं और आज उसे व्यापक आबादी का समर्थन हासिल है – इसलिए नहीं कि फ़िलिस्तीनी जनता अपनी सेक्युलर सोच छोड़कर कट्टरपन्थी हो गयी है, बल्कि इसलिए, क्योंकि इज़रायली ज़ियनवादी फासिस्टों और अमेरिकी साम्राज्यवाद के साथ जनता कभी समझौता नहीं कर सकती और आज सिर्फ हमास ही जुझारू तरीके से साम्राज्यवाद से लड़ रहा है। कट्टरपन्थी और आतंकवादी तरीके दरअसल दशकों से लड़ रही जनता में फैली निराशा और बेबसी की ही अभिव्यक्ति हैं।

इज़रायली हमले का उद्देश्य अगर फ़िलिस्तीनियों के प्रतिरोध संघर्ष को ख़त्म करना है तो इसमें वह कभी क़ामयाब नहीं होगा। अगर हमास ख़त्म भी हो गया तो उसकी जगह कोई उससे भी ज़्यादा कट्टरपन्थी संगठन ले सकता है। दूसरी सम्भावना यह भी है कि धार्मिक कट्टरपन्थ के नतीजों को देखने के बाद फ़िलिस्तीनी जनता के बीच से रैडिकल वामधारा को मज़बूती मिले। लेकिन इतना तय है कि फ़िलिस्तीनियों का प्रतिरोध संघर्ष थमेगा नहीं। फ़िलिस्तीन का बच्चा-बच्चा यह जानता है कि अगर उन्होंने लड़ना बन्द कर दिया तो इज़रायल उन्हें नेस्तनाबूद कर देगा।

इस स्थिति का दूसरा पहलू यह है कि हर इज़रायली हमला फ़िलिस्तीनी और अरब जनता में अरब शासकों के पाखण्ड और पी.एल.ओ. की समझौतापरस्ती के प्रति नफ़रत को और बढ़ाने का काम करता है। इज़रायल के कब्ज़े में रहे फ़िलिस्तीनी इलाकों में दो बार हुई इंतिफ़ादा (बग़ावत) का असर तो फ़िलिस्तीन के भीतर तक सीमित था लेकिन इस बार के हमले का असर पूरे पश्चिम एशिया की अरब जनता पर होगा।

हमेशा की तरह जनता के संघर्ष ने इज़रायली शासकों के भीतर भी फूट डाल दी है। इस फूट के भी कई संस्तर हैं। इज़रायली मेहनतकशों और मध्यवर्ग का एक हिस्सा अपने शासकों पर दबाव डाल रहा है कि फ़िलिस्तीन के साथ समझौता किया जाये। अरब जनता में फ़िलिस्तीनियों के प्रति मौजूद सहानुभूति और इज़रायल व अमेरिका के साथ ही अपने देश के शासकों के प्रति बढ़ते गुस्से से डरे अरब देशों के शासक भी दबी जुबान से ही सही, समझौते के लिए दबाव बढ़ा रहे हैं। पूरी दुनिया की जनता भी एक बार फिर फ़िलिस्तीनी जनता के पक्ष में खड़ी हो रही है। इराक और लेबनान से लेकर फ़िलिस्तीन तक पूरे अरब जगत को साम्राज्यवाद के अन्तरविरोधों की ऐसी गाँठ में तब्दील कर रहे हैं जो अन्तत: एक क्रान्तिकारी विस्फोट को जन्म देगी।

वैसे इज़रायल ने लेबनान पर 2007 के अपने हमलों से कोई सबक नहीं सीखा है। भीषण हमलों में सैकड़ों लोगों की हत्या और कई शहरों को तबाह करने के बाद भी इज़रायल हिजबुल्ला संगठन को खत्म नहीं कर सका बल्कि वह और मजबूत होकर उभरा। इस बार भी ऐसा ही हो सकता है। हमास वहाँ की जनता में इस कदर घुलामिला है कि जनता का सफ़ाया किये बिना हमास को नहीं मिटाया जा सकता। अगर पागलपन पर उतारू इज़रायली शासकवर्ग ने ऐसा ही करने की ठान ली और हमास की जड़ें उखाड़ने के लिए भयंकर जनसंहार का रास्ता अपनाया तो गाज़ा पट्टी से उजड़कर जो बहुत बड़ी आबादी दूसरे अरब देशों में फैल जायेगी वह इज़रायल, अमेरिका और उनके आगे घुटने टेक चुके अरब शासकों के प्रति अरब जनता की नफ़रत का भी फैलाव करेगी। बेशक, आने वाले चन्द एक वर्षों में तो ऐसा नहीं होगा, लेकिन पश्चिम एशिया की धरती पर साम्राज्यवाद की कब्र खुदनी तय है।

– नवीन पन्त

एक नौजवान की पुलिस द्वारा हत्या से फट पड़ा ग्रीस के छात्रों-नौजवानों-मज़दूरों में वर्षों से सुलगता आक्रोश

दिसम्बर के पहले सप्ताह में 15 वर्षीय किशोर एलेक्सी की पुलिस द्वारा हत्या के विरोध में ग्रीस (यूनान) के छात्र-नौजवान, मज़दूर और आम नागरिक सड़कों पर उतर आये। ग्रीस की राजधानी एथेंस सहित देश के सभी प्रमुख शहरों में हज़ारों-हज़ार लोगों के उग्र प्रदर्शन और हड़तालें हुईं। लोगों ने पुलिस और दंगारोधी बलों के हमलों का जमकर मुकाबला किया। छात्रों-नौजवानों ने लगभग 600 स्कूल-कॉलेजों पर क़ब्ज़ा कर लिया और सड़कों पर आमने-सामने की लड़ाई में सशस्त्र बलों को नाकों चने चबवा दिये।

दरअसल एलेक्सी की हत्या सिर्फ एक चिंगारी थी जिसने पूरे ग्रीस में मेहनतकश और छात्र-युवा आबादी के बीच सुलग रहे गुस्से को बाहर निकलने का रास्ता दे दिया। ग्रीस में सामाजिक असन्तोष पैदा होने के संकेत पहले ही मिलने लगे थे। नवउदारवादी नीतियाँ लागू करने के परिणामस्वरूप आबादी का बड़ा हिस्सा खराब जीवन स्तर झेलने पर मजबूर है। बेरोज़गारी, कम तनख़्वाहें, काम करने की ख़राब स्थितियाँ, बढ़ती महगाँई, पुलिस का दमनकारी रवैया और भ्रष्ट सरकारों के बीच आम जनता का जीवन बद से बदहाल होता जा रहा है। देश की इन स्थितियों से सबसे ज़्यादा निराशा युवावर्ग के अन्दर पैठ गयी है। वास्तव में युवाओं को अपने भविष्य की अन्धकारमय तस्वीर ही नज़र आ रही है। मन्दी के दौर ने स्थिति को और बदतर बना दिया है। हालात ये हैं कि ग्रीस, फ्रांस, इटली, स्पेन, पोलैण्ड, तुर्की आदि कई यूरोपीय देशों में बेरोज़गारी लगातार बढ़ रही है और मेहनतकश आबादी का जीवन ख़राब होता जा रहा है। फ्रांस में 2005 में हुए दंगे ऐसे ही हालात की उपज थे। यही वजह रही कि ग्रीस की घटना ने सभी यूरोपीय राष्ट्राध्यक्षों के चेहरों पर चिन्ता की लकीरें पैदा कर दी हैं।

पूँजीवाद का संकट बढ़ने के साथ यूरोप के अनेक देशों में जनअसन्तोष बार-बार कई रूपों में प्रकट हो रहा है। बढ़ती बेरोज़गारी, महँगाई, ग़रीबी, अशिक्षा आदि के कारण तीसरी दुनिया के देशों में ही नहीं बल्कि अमेरिका और यूरोप के देशों समेत पूरी दुनिया की मेहनतकश आबादी और जागरूक छात्रों-नौजवानों में असन्तोष बढ़ रहा है। हालात यह है कि एक आम सी लगने वाली घटना भी जनता के असंतोष के उभरने का सबब बन जा रही है। ग्रीस में भी ऐसा ही हुआ।

ग्रीस में बेरोज़गारी एक राष्ट्रीय समस्या बन चुकी है। 15-24 वर्ष के हर 4 में से 1 नौजवान के पास काम नहीं है। बेरोज़गारी के कारण 25 वर्ष से कम उम्र की 25 प्रतिशत युवा आबादी गरीबी की दर से नीचे जीवन बिता रही है। 30 साल से कम आयु के 28 प्रतिशत युवा विश्वविद्यालय से स्नातक करके नौकरी की तलाश में दर-दर भटक रहे हैं। युवाओं में बेरोज़गारी का आधिकारिक आँकड़ा 21.4 प्रतिशत का है। हालाँकि इसमें उन युवाओं को शामिल नहीं किया गया है जो अभी भी अपने परिवारों के साथ रह रहे हैं।

काम करने वाले लोगों की हालत भी बहुत अच्छी नहीं है। 29 वर्ष से कम उम्र के युवा कामगारों की औसत तनख्वाह मात्र 964 यूरो है। जबकि सभी उम्र के कर्मचारियों को मिलाकर औसत आय 789 यूरो है। एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार सिर्फ 55 प्रतिशत नौजवान कर्मचारी ही अपना गुज़ारा ठीक से कर पाते हैं। ज़्यादातर स्नातकोत्तर युवाओं को ग्रीस की न्यूनतम मज़दूरी 600 यूरो प्रति माह मिलती है। इतनी कम तनख़्वाह होने की वजह से कई युवाओं को दो-दो नौकरियाँ करनी पड़ रही हैं। इसी वजह से इस आबादी को "जनरेशन 600" नाम भी दे दिया गया है।

अर्थव्यवस्था की स्थिति भी गम्भीर है। सामाजिक सेवाओं के ख़र्च में कटौती करने और जनता के लिए लाभकारी कई बुनियादी सेवाओं का निजीकरण करने के बावजूद ग्रीस की ऋणग्रस्तता (सकल घरेलू उत्पाद की 94 प्रतिशत) यूरोपीय देशों में केवल इटली से कम है। पिछले सात वर्षों में व्यक्तिगत घरेलू ऋणग्रस्तता 16.8 से 93.3 बिलियन यूरो तक पहुँच गयी है। निजीकरण की वजह से हज़ारों नौकरियाँ समाप्त हो गयी हैं। फिलहाल सरकारी स्वामित्व वाले ओलम्पिक एयरलाइन को बेचने की तैयारी चल रही है। ज़रूरी सामानों की क़ीमतों में बेतहाशा वृद्धि हुई है। पिछले जून में मुद्रास्फीति की दर 10 सालों के अधिकतम स्तर 4.9 प्रतिशत तक पहुँच गयी। जनरल कन्फेडरेशन ऑफ ग्रीस वर्कर्स का कहना है कि आने वाले साल में 1,00,000 नौकरियाँ ख़त्म हो सकती हैं और बेरोज़गारी की दर 5 प्रतिशत बढ़ सकती है। भयंकर बेरोज़गारी, महँगाई के साथ-साथ भ्रष्ट सरकारों ने भी ग्रीस को इस हालत में पहुँचा दिया है।

ग्रीस की राजनीति में शुरू से केरामानलिस और पापेन्द्रयू परिवारों का वर्चस्व रहा है। ग्रीस के प्रधानमन्त्री कोस्तास केरामानलिस की न्यू डेमोक्रेसी नामक दक्षिणपन्थी पार्टी फिलहाल सत्ता में है। जबकि पासोक नाम की समाजवादी पार्टी के आन्द्रियास पापेन्द्रयू राष्ट्रपति हैं। पासोक नवउदारवादी नीतियों की समर्थक पार्टी है। संशोधनवादी ग्रीक कम्युनिस्ट पार्टी भी भारत के नकली वामपंथियों की तरह पासोक की नीतियों का समर्थन कर रही है।

इन पार्टियों का जनविरोधी चरित्र इस संघर्ष के दौरान खुलकर सामने आ गया। प्रदर्शन, हड़ताल और सड़कों पर सशस्त्र बलों का सामना कर रहे छात्रों-नौजवानों-मज़दूरों को किसी पार्टी ने अराजकतावादी कहा तो किसी ने 'हिंसा करने वाले अपराधी'। सरकार और विपक्ष दोनों ने इस संघर्ष को उन्मादी भीड़ की कार्रवाई बताते हुए नैतिक रूप से तोड़ने की भी कोशिश की। लेकिन लोगों का संघर्ष चलता रहा। इस घटना की ख़ास बात यह भी है कि लोगों ने तमाम अवसरवादी और गद्दार राजनीतिक संगठनों और पार्टियों को किनारे कर कमान ख़ुद अपने हाथों में ले ली थी। भले ही यह संघर्ष कुचल दिया गया हो पर इसने संकेत दे दिया कि सतह के नीचे लावा सुलग रहा है जो कभी भी मौक़ा पाकर फूट सकता है।

– कपिल

पूँजीवादी "सुधारों" से तबाह चीन की मेहनतकश जनता नये बुर्जुआ शासकों के ख़िलाफ़ लड़ रही है

'बिगुल' के पिछले अंक में हमने रॉबर्ट वील के लेख के आधार पर चीन में मेहनतकशों की स्थिति और युवा मज़दूरों के बीच बढ़ती वर्ग चेतना को दर्शाती विस्तृत रिपोर्ट प्रकाशित की थी। इस बार हम प्रसिद्ध चीनी विद्वान प्रोफ़ेसर पाओ यू-चिङ के एक भाषण के आधार पर चीन की मौजूदा हालत के बारे में एक और रिपोर्ट प्रस्तुत कर रहे हैं। पाओ यू-चिङ माओ त्से-तुङ के विचारों और प्रयोगों की क्रान्तिकारी विरासत को स्वीकार करती हैं। वे हाङकाङ स्थित चिङकाङशान इंस्टीट्यूट से जुड़ी हुई हैं। कुछ वर्ष पहले प्रकाशित उनका लेख 'समाजवाद पर पुनर्विचार' भी चीन में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना पर विचारोत्तेजक सामग्री देता है। – सम्पादक

पूँजीवादी पथगामियों द्वारा चीन में "सुधारों" की शुरुआत से अब तक तीस वर्ष से अधिक का समय गुज़र चुका है और इस दौरान चीनी जनता को समझ आ चुका है कि पूँजीवाद में सुधार का अर्थ वास्तव में क्या होता है। अब मज़दूरों-किसानों से लेकर बुद्धिजीवी तक इन सुधारवादी नीतियों का मुखर विरोध करने लगे हैं। राजकीय उपक्रमों में काम कर चुके मज़दूर कह रहे हैं, "जिन फ़ैक्ट्रियों को हमने दशकों तक ख़ून-पसीना बहाकर खड़ा किया था उन्हें तुमने देशी-विदेशी पूँजीपतियों को बेच दिया, इमारतें और मशीनें नष्ट कर दीं और अब हमारी ज़मीनें भी छीन रहे हो, तुमने चीन की सम्पदा को आम जनता के हाथ से छीनकर हम लोगों को दिन-रात हाड़ गलाने और तिल-तिल कर मरने के लिए छोड़ दिया है।" बुद्धिजीवी भी मुखर होकर कहने लगे हैं कि ये समाजवादी चोगे में लिपटे पूँजीवादी सुधार हैं और इनसे चीन में अमीरों-गरीबों की बीच की खाई और चौड़ी होती जा रही है।

मज़दूरों और शहरी आबादी के लिए "सुधारों" का मतलब क्या है?

कम्यूनों को भंग करने के साथ ही संशोधनवादियों ने औद्योगिक क्षेत्र के उत्पादन सम्बन्धों में बुनियादी परिवर्तन आरम्भ कर दिये। श्रम "सुधार" इसका एक ज़रूरी घटक था, जिसका उद्देश्य स्थायी रोज़गार प्रणाली को ख़त्म करना और राजकीय उपक्रमों के मज़दूरों को उजरती मज़दूरों और उनकी श्रमशक्ति को माल में तब्दील करना था।

तथाकथित श्रम सुधारों के तहत सबसे पहले माओ के समय से लागू आठ-स्तरीय वेतन प्रणाली को बदल दिया गया। इसके तहत मज़दूरों को प्रतिस्पर्द्धा के लिए उकसाकर वेतन में बोनस जोड़ा गया। मज़दूरों ने इस बदलाव का प्रतिरोध बोनस को आपस में बाँटकर किया ताकि महँगी होती जीवनस्थितियों का मुकाबला किया जा सके। उन्होंने संशोधनवादियों द्वारा मासिक वेतन को पीस-रेट के अनुसार भुगतान में बदलने का भी प्रतिरोध किया, क्योंकि वे जानते थे कि यह उन्हें बाँटने की रणनीति है। दरअसल, सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान मज़दूरों को अच्छी तरह समझ में आ गया था कि उन्हें आपस में बाँटने के लिए भौतिक प्रोत्साहन को इस्तेमाल किया जा सकता है।

धीरे-धीरे सुधारवादियों ने नए भर्ती किये मज़दूरों को अस्थायी ठेका जारी करते हुए 1980 तक मज़दूरों के स्थायी रोज़गार की स्थिति को बदल दिया। 1990 के दशक के आरम्भ में बड़े पैमाने पर निजीकरण और राजकीय उपक्रमों के पुनर्गठन की शुरुआत के साथ इसमें और तेजी आयी तथा 1999 तक पूर्व राजकीय उपक्रमों (शहरी सामूहिक उपक्रमों की छोटी संख्या सहित) के स्थायी मज़दूरों की संख्या घटकर 47.5 प्रतिशत रह गयी। इस व्यापक छँटनी, कारखाने बन्द करके दी गई जबरन सेवानिवृत्ति और राजकीय उपक्रमों के पुनर्गठन ने दसियों लाख मज़दूरों को सड़क पर ला पटका। इनमें से अधिकांश को नौकरी से निकाले जाने पर केवल मामूली-सा भुगतान किया गया।

छँटनी के बाद अधिकांश मज़दूरों को मिलने वाले भत्ते भी बन्द हो गए और आसमान छूती चिकित्सा क़ीमतों ने स्वास्थ्य के बुनियादी अधिकार से उन्हें वंचित कर दिया। अब चीन के अस्पताल मुनाफ़ा कमाने के संस्थानों में तब्दील हो चुके हैं। इन अस्पतालों में महँगी और विदेशों से आयातित दवाएँ देने से पहले जाँच आदि के नाम पर बड़ी रकम ऐंठी जाती है, जिनमें से अधिकतर जाँचें ग़ैरज़रूरी होती हैं। ऐसा इसलिए किया जाता है कि मुनाफ़ा पीटने के साथ ही समाज से कट चुके चिकित्सकों को भी ऊँचा वेतन और सुविधाएँ आदि दिये जा सकें। स्वास्थ्य बीमा या स्वास्थ्य की देखभाल आदि की सुविधाओं के बिना चीन की मेहनतकश जनता तब तक अस्पताल का रुख़ नहीं करती है जब तक कि उनकी मामूली बीमारियाँ बढ़ कर किसी गम्भीर बीमारी में तब्दील नहीं हो जातीं। अन्त में जब वे अस्पताल पहुँचते हैं तो उन्हें मोटी रकम लिये बिना भर्ती करने तक से इंकार कर दिया जाता है।

"सुधारों" की कड़ी में श्रम सुधार के तहत बड़े पैमाने पर मज़दूरों की छँटनी से पहले आवास सम्बन्धी "सुधारों" की शुरुआत हुई थी। "सुधारों" के नाम पर वे तमाम मकान मज़दूरों को ही बेच दिये गये जिनमें वे और उनके परिवार दशकों से रहते आये थे। लेकिन आवासीय क्षेत्र में निजीकरण के साथ ही फैक्ट्रियों ने अपने मज़दूरों को आवास की सुविधा मुहैया कराना बन्द कर दिया, जैसाकि वे समाजवाद के दौर में करती थीं। आज स्थिति यह है कि मज़दूरों को नियमित काम मिलता है तो वे ख़ुद को ख़ुशकिस्मत समझते हैं, इस पर भी उनकी मज़दूरी इतनी नहीं होती कि वे किराये पर मकान लेकर रह सकें। मकानों और उनके किरायों में पचास से सौ गुना वृद्धि हो चुकी है। नौजवान मज़दूर या तो अपने माँ-बाप के साथ ही रहते हैं या कई मज़दूरों के साथ दड़बेनुमा क्वार्टरों में रहते हैं, जहाँ उनको ठीक से आराम भी नहीं मिल पाता।

जिन मज़दूरों को औपचारिक क्षेत्र में काम नहीं मिलता वे कोई भी काम करके अपना गुज़ारा चलाते हैं और उनमें से अधिकतर अपनी बुनियादी ज़रूरतें तक पूरी नहीं कर पाते । कई मज़दूर सड़कों पर खाने-पीने का सामान, या कम कीमत वाला अन्य सामान बेच कर अपना पेट पालते हैं, तो कुछ मज़दूर कुछेक घण्टों या दिनों के लिए काम पा जाते हैं। इन अस्थायी या आकस्मिक कामों में निर्वाह के लिए आवश्यक रकम से भी कम का भुगतान किया जाता है – जो औपचारिक क्षेत्र के नियमित कामों के आधे से कम होता है।

शहरों में रहने और काम करने वाले मज़दूरों के अतिरिक्त 20 करोड़ प्रवासी मज़दूर काम की तलाश में शहरों में आते हैं। अधिकांश महिला मज़दूर तटीय क्षेत्रों में स्थित निर्यात आधारित उद्योगों में काम करती हैं या अमीरों के यहाँ घरेलू काम करती हैं। अधिकतर प्रवासी पुरुष मज़दूर निर्माण कम्पनियों के लिए काम करने को मजबूर होते हैं। वे शहर में सबसे मुश्किल, गन्दा और जोखिमभरा काम करते हैं, ताकि अपने परिवार को ज़िन्दा रखने के लिए घर पर कुछ पैसा भेज सकें। शहरी निवासी का क़ानूनी दर्जा न होने के कारण उनके मालिक उनके साथ जानवरों जैसा व्यवहार करते हैं और उनकी मज़दूरी तक हड़प लेते हैं।

यदि पूरा परिवार काम की तलाश में शहर आता है तो शहरी निवासी का क़ानूनी दर्जा और पैसा नहीं होने के कारण मज़दूरों के बच्चे स्कूल नहीं जा पाते। निर्यात आधारित फैक्ट्रियों में उन्हें भयंकर भीड़भरे दड़बेनुमा क्वार्टरों में रहना पड़ता है और निर्माण क्षेत्र में काम करने वाले मज़दूरों को अक्सर निर्माण स्थल के पास बने टेण्टों में ही सोने के लिए मजबूर किया जाता है। कुल मिलाकर, उनके अपने ही देश में उनके साथ उसी तरह का व्यवहार किया जाता है जैसा कि पूरी दुनिया में अवैध रूप से काम करने वाले प्रवासी मज़दूरों के साथ किया जाता है।

सबसे गम्भीर बात यह है कि चीन के मेहनतकशों को अब वह गरिमा और सम्मान प्राप्त नहीं है जो उन्हें समाजवादी दौर में प्राप्त था। उस समय उन्हें देश का "निर्माता" कहा जाता था और उन्हें निर्णय करने और कार्यस्थल पर नियन्त्रण के लिए कई अधिकार प्राप्त थे। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान अधिकांश फैक्ट्रियों में अनुचित नियम-क़ानूनों के ख़ात्मे के लिए संघर्ष हुए थे। उस दौरान मज़दूरों को प्रबन्धन के ख़िलाफ़ बोलने का अधिकार था और नौकरी से निकाले जाने या दण्ड का भय नहीं था। मज़दूरों में उच्च स्तर की राजनीतिक चेतना थी और वे महत्वपूर्ण मुद्दों पर आपस में चर्चा किया करते थे। अब समाज और कार्यस्थल पर मज़दूरों की स्थिति वैसी ही हो गयी है जैसी क्रान्ति-पूर्व चीन में हुआ करती थी।

पुराने मज़दूर उस समय आक्रोश से भर उठे जब उन पूर्व राजकीय उपक्रमों को राजनीतिक सम्पर्कों वाले मुट्ठीभर धनिकों के हाथ में सौंप दिया गया, जिन्हें उन्होंने कई दशकों तक खून-पसीना बहाकर खड़ा किया था। एक पुराने मज़दूर ने, जिसकी उम्र सत्तर वर्ष से अधिक है, बताया कि समाजवाद के दौर में वे ओवरटाइम या बोनस लिये बिना इतवार को स्वेच्छा से ओवरटाइम किया करते थे। उसने यह भी बताया कि उसकी फैक्ट्री के पुराने मज़दूर इतवार और छुट्टी के दिनों में भी फैक्ट्री जाया करते थे ताकि ये यह सुनिश्चित किया जा सके कि सबकुछ ठीक-ठाक चल रहा है। उन्होंने अपनी पूरी क्षमा और सामर्थ्य उन फैक्ट्रियों में लगा दिया और फैक्ट्रियों को अपना मानकर उनमें काम किया। ये मज़दूर उस समय आक्रोश से भर उठे जब संशोधनवादियों ने श्रम सुधारों पर अमल करने के लिए यह आरोप लगाया कि मज़दूरों की आरामतलबी और कामचोरी के कारण राजकीय उपक्रम किसी काम के नहीं रह गये थे।

स्वास्थ्य सुरक्षा गँवाने के साथ ही मज़दूरों को लगातार ख़तरनाक़ और विषाक्त स्थितियों में काम करना पड़ रहा है। किसी भी फैक्ट्री में, चाहे वह किसी बड़ी कम्पनी की हो या छोटे मालिकों की, पर्यावरण और मज़दूरों की सुरक्षा के नियमों की खुलेआम धज्जियाँ उड़ायी जाती हैं। असुरक्षित और प्रदूषित वातावरण में काम करने के कारण होने वाली मौतों और दुर्घटनाओं के आँकड़े भी कम विचलित करने वाले नहीं हैं। अलग-अलग उम्र के मज़दूर अमेरिका से आयातित ख़तरनाक़ इलेक्ट्रॉनिक कचरे से निकलने वाली विषैली धातुओं से किसी भी तरह की सुरक्षा के बिना काम करते हैं, जबकि ख़तरनाक खदानों में काम करने वाले मज़दूरों की मौतों की संख्या भी चीन में सबसे अधिक है। **2003 के आधिकारिक रिकॉर्ड के अनुसार प्रत्येक दस लाख टन कोयले की खुदाई के दौरान चार मज़दूरों की मौत होती है, जोकि रूस और सभी पश्चिमी देशों की मृत्य दर से अधिक है।**

बेहिसाब अय्याशी का जीवन बिताने वाले बेहद धनी लोगों – भ्रष्ट नौकरशाहों और नये पूँजीपतियों – के अतिरिक्त, शहरी आबादी का करीब 20 फ़ीसदी हिस्सा भी पिछले तीस वर्षों से सुविधासम्पन्न जीवन बिता रहा है। इनमें से कुछ ऐसे पेशेवर हैं जो घरेलू और विदेशी व्यवसायों की चाकरी करते हैं। इन्हें इतना अधिक वेतन मिलता है कि ये पश्चिमी देशों के कथित मध्यवर्ग की तुलना में अधिक ऊँचे स्तर का जीवन बिताते हैं और महँगे होटलों-रेस्तराओं में अच्छी-खासी रकम खर्च करते हैं। शहरी आबादी के इस वर्ग के अन्य लोगों में विश्वविद्यालयों के प्रोफ़ेसरों सहित मौजूदा और सेवानिवृत्त नौकरशाह आते हैं। ये लोग अपने जीवन से काफी सन्तुष्ट हैं और सुधारवादी नीतियों का समर्थन करते हैं। हालांकि, आरामदायक जीवन के बावजूद, सुधारों की आलोचना करने वालों की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है और हाल ही में तीखे वैचारिक हमलों के साथ ही ये ज़्यादा मुखर हुए हैं।

"सुधारों" के बाद किसानों की बदतर हालत

1979 में राजनीतिक सत्ता मज़बूत करने के साथ ही संशोधनवादियों ने जन कम्यूनों को भंग करना शुरू कर दिया था। किसानों को सामूहिक व्यवस्था त्यागने और निजी खेती शुरू करने के लिए उकसाने के मकसद से संशोधनवादियों ने ऊँचे दाम पर अनाज ख़रीदने से शुरुआत की। शुरुआती वृद्धि के बाद वहाँ अनाज का उत्पादन ठहराव का शिकार हो गया। इसका एक कारण यह था कि कम्यून के वर्षों के दौरान निर्मित कृषि ढाँचे में गिरावट शुरू हो गई और किसी भी तरह की मरम्मत के लिए किया जाना वाला निवेश बेहद कम हो गया। यही नहीं, कम्यून व्यवस्था के ढहने के बाद इस तरह के कृषि ढाँचे की परियोजनाओं के लिए मज़दूरों को संगठित करना भी असम्भव हो गया। इसके अतिरिक्त, उत्पादन ब्रिगेडों और कम्यूनों द्वारा लाये गये कृषि यन्त्र तेज़ी के साथ घिसने लगे और व्यक्तिगत तौर पर किसानों के पास इतना धन नहीं था कि नये यन्त्र खरीद सकें। यही नहीं, याङत्से नदी के डेल्टा के क्षेत्र, जहाँ ज़मीन छोटी-छोटी पट्टियों में बँटी है, जैसे कुछ क्षेत्रों में कृषि यन्त्रों को प्रयोग करना अब बिल्कुल सम्भव नहीं रहा। इन क्षेत्रों के किसान साधारण औज़ारों के साथ खेती के पुराने तरीके इस्तेमाल करने के लिए मजबूर हैं, जो वे सामूहिकीकरण से पहले किया करते थे।

दूसरा कारक है तेजी के साथ घटती खेती योग्य ज़मीन, जिसका काफी हिस्सा अब औद्योगिक और व्यापारिक इस्तेमाल के लिए दे दिया गया है और किसान भी इस पर फसल नहीं उगाते क्योंकि कृषि उत्पादन में उतना मुनाफ़ा नहीं होता। बाढ़ और सूखा जैसी प्राकृतिक आपदाओं तथा पर्यावरण के प्रदूषण की वजह से भी ज़मीन का बड़ा हिस्सा कृषि योग्य नहीं रह गया है। साथ ही, खेती में पूँजी की घुसपैठ के बाद बड़ी संख्या में मज़दूरों के देहात से शहरों की ओर जाने के कारण भी चीन के देहात क्षेत्र में मज़दूरों की कमी हो गयी है।

1980 के दशक के अन्त से आय के मुख्य स्रोत के तौर पर फसल की बिक्री पर निर्भर किसानों की ज़िन्दगी और भी दुश्कर हो गयी है। उस पर से, विश्व व्यापार संगठन के साथ क़रार के कारण वर्ष 2003 से चीन ने अनाज और अन्य कृषि उत्पादों का आयात भी आरम्भ कर दिया है। कृषि बाजार के उदारीकरण के लिए सरकार द्वारा उठाए गए क़दमों के कारण फसल की कीमत में उतार-चढ़ाव होता रहता है, जबकि खेती में निवेश की लागत लगातार बढ़ती जा रही है। 1990 के दशक के आरम्भ से देहात के लोगों ने बड़ी संख्या में शहर की ओर प्रवास आरम्भ कर दिया था। मौजूदा समय में तकरीबन 20 करोड़ किसान प्रवासी मज़दूरों के तौर पर शहरों में काम करते हैं। इससे ज़ाहिर होता है कि तीसरी दुनिया के अन्य देशों की तरह चीन की खेती अब किसान आबादी के लिए पर्याप्त नहीं है, जिसकी वजह से उन्हें मज़दूरी करने के लिए शहरों का रुख करना पड़ता है।

कम्यून प्रणाली की स्थापना के समय स्थापित स्वास्थ्य सेवा प्रणाली भी कम्यूनों को भंग किये जाने के साथ ही ढह गयी। कम्यून प्रणाली ध्वस्त होने के बाद, पूर्व कम्यून सदस्यों ने स्वास्थ्य एवं अन्य सुविधाएँ गँवा दीं।

बीमारियों की रोकथाम करने वाली किसी प्रणाली की कमी के कारण टीबी या अन्य बीमारियों ने दोबारा पैर पसार लिये हैं, जिन्हें 1950 के दशक

(पेज 8 पर जारी)

सही विचार आखिर कहाँ से आते हैं?

• माओ त्से-तुङ

सही विचार आखिर कहाँ से आते हैं? क्या वे आसमान से टपक पड़ते हैं? नहीं। क्या वे हमारे दिमाग में स्वाभाविक रूप से पैदा हो जाते हैं? नहीं। वे सामाजिक व्यवहार से, और केवल सामाजिक व्यवहार से ही पैदा होते हैं; वे तीन किस्म के सामाजिक व्यवहार से पैदा होते हैं – उत्पादन-संघर्ष, वर्ग-संघर्ष और वैज्ञानिक प्रयोग से पैदा होते हैं। मनुष्य का सामाजिक अस्तित्व ही उसके विचारों का निर्णय करता है। जहाँ एक बार आम जनता ने आगे बढ़े हुए वर्ग के सही विचारों को आत्मसात कर लिया, तो ये विचार एक ऐसी भौतिक शक्ति में बदल जाते हैं जो समाज को और दुनिया को बदल डालती है। अपने सामाजिक व्यवहार के दौरान मनुष्य विभिन्न प्रकार के संघर्षों में लगा रहता है और अपनी सफलताओं और असफलताओं से समृद्ध अनुभव प्राप्त करता है। मनुष्य की पाँच ज्ञानेन्द्रियों–आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा – के जरिये वस्तुगत बाह्य जगत की असंख्य घटनाओं का प्रतिबिम्ब उसके मस्तिष्क पर पड़ता है। ज्ञान शुरू में इन्द्रियग्राह्य होता है। धारणात्मक ज्ञान अर्थात विचारों की स्थिति में तब छलाँग भरी जा सकती है जब इन्द्रियग्राह्य ज्ञान काफी मात्रा में प्राप्त कर लिया जाये। यह ज्ञानप्राप्ति की एक प्रक्रिया है। यह ज्ञानप्राप्ति की समूची प्रक्रिया की पहली मंज़िल है, एक ऐसी मंज़िल जो हमें वस्तुगत पदार्थ से मनोगत चेतना की तरफ ले जाती है, अस्तित्व से विचारों की तरफ ले जाती है। किसी व्यक्ति की चेतना या विचार (जिनमें सिद्धान्त, नीतियाँ, योजनाएँ अथवा उपाय शामिल हैं) वस्तुगत बाह्य जगत के नियमों को सही ढंग से प्रतिबिम्बित करते हैं अथवा नहीं, यह इस मंज़िल में साबित नहीं हो सकता तथा इस मंजिल में यह निश्चित करना सम्भव नहीं कि वे सही हैं अथवा नहीं। इसके बाद ज्ञानप्राप्ति की प्रक्रिया की दूसरी मंज़िल आती है, एक ऐसी मंज़िल जो हमें चेतना से पदार्थ की तरफ वापस ले जाती है, विचारों से अस्तित्व की तरफ वापस ले जाती है, तथा जिसमें पहली मंज़िल के दौरान प्राप्त किये गये ज्ञान को सामाजिक व्यवहार में उतारा जाता है, ताकि इस बात का पता लगाया जा सके कि ये सिद्धान्त, नीतियाँ, योजनाएँ अथवा उपाय प्रत्याशित सफलता प्राप्त कर सकेंगे अथवा नहीं। आम तौर पर, इनमें से जो सफ़ल हो जाते हैं वे सही होते हैं और जो असफल हो जाते हैं वे ग़लत होते हैं, तथा यह बात प्रकृति के खिलाफ मनुष्य के संघर्ष के बारे में विशेष रूप से सच साबित होती है। सामाजिक संघर्ष में, कभी-कभी आगे बढ़े हुए वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली शक्तियों को पराजय का मुँह देखना पड़ता है, इसलिए नहीं कि उनके विचार ग़लत हैं बल्कि इसलिए कि संघर्ष करने वाली शक्तियों के तुलनात्मक बल की दृष्टि से फिलहाल वे शक्तियाँ उतनी ज़्यादा बलशाली नहीं हैं जितनी कि प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ; इसलिए उन्हें अस्थायी तौर से पराजय का मुँह देखना पड़ता है, लेकिन देर-सबेर विजय अवश्य उन्हीं को प्राप्त होती है।

मनुष्य का ज्ञान व्यवहार की कसौटी के जरिये छलाँग भर कर एक नयी मंज़िल पर पहुँच जाता है। यह छलाँग पहले की छलाँग से और ज़्यादा महत्वपूर्ण होती है। क्योंकि सिर्फ यही छलाँग ज्ञानप्राप्ति की पहली छलाँग अर्थात वस्तुगत बाह्य जगत को प्रतिबिम्बित करने के दौरान बनने वाले विचारों, सिद्धान्तों, नीतियों, योजनाओं अथवा उपायों के सही होने अथवा गलत होने को साबित करती है। सच्चाई को परखने का दूसरा कोई तरीका नहीं है। यही नहीं, दुनिया का ज्ञान प्राप्त करने का सर्वहारा वर्ग का एकमात्र उद्देश्य है उसे बदल डालना। अकसर सही ज्ञान की प्राप्ति केवल पदार्थ से चेतना की तरफ जाने और फिर चेतना से पदार्थ की तरफ लौटने की प्रक्रिया को, अर्थात व्यवहार से ज्ञान की तरफ जाने और फिर ज्ञान से व्यवहार की तरफ लौट आने की प्रक्रिया को बार-बार दोहराने से ही होती है। यही मार्क्सवाद का ज्ञान-सिद्धान्त है, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का ज्ञान-सिद्धान्त है।

हमारे साथियों में बहुत से लोग ऐसे हैं जो इस ज्ञान-सिद्धान्त को नहीं समझ पाते। जब उनसे यह पूछा जाता है कि उनके विचारों, रायों, नीतियों, तरीकों, योजनाओं व निष्कर्षों, धारा-प्रवाह भाषणों व लम्बे-लम्बे लेखों का मूल आधार क्या है, तो यह सवाल उन्हें एकदम अजीब-सा मालूम होता है और वे इसका जवाब नहीं दे पाते। और न वे इस बात को ही समझ पाते हैं कि पदार्थ को चेतना में बदला जा सकता है और चेतना को पदार्थ में, हालाँकि इस प्रकार की छलाँग लगाना एक ऐसी चीज़ है जो रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में मौजूद रहती है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम अपने साथियों को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के ज्ञान-सिद्धान्त की शिक्षा दें, ताकि वे अपने विचारों को सही दिशा प्रदान कर सकें, जाँच-पड़ताल व अध्ययन करने और अनुभवों का निचोड़ निकालने में कुशल हो जायें, कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर सकें, कम से कम गलतियाँ करें, अपना काम बेहतर ढंग से करें, तथा पुरज़ोर संघर्ष करें, जिससे हम चीन को एक महान और शक्तिशाली समाजवादी देश बना सकें तथा समूची दुनिया के शोषित-उत्पीड़ित लोगों के व्यापक समुदाय की सहायता करते हुए अपने महान अन्तरराष्ट्रवादी कर्तव्य को, जिसे हमें निभाना है, पूरा कर सकें।

(मई 1963)

चीन की मेहनतकश जनता नये बुर्जुआ शासकों के ख़िलाफ़ लड़ रही है

(पेज 7 से आगे)

में मुख्यत: समाप्त कर दिया गया था। इसके अतिरिक्त, एचआईवी/एड्स जैसे रोगों और सार्वजनिक स्वास्थ्य के प्रति सरकारी उपेक्षा और सुविधाओं के अभाव के कारण भी दसियों लाख लोग त्रस्त हैं।

कम्यूनों के ख़ात्मे के साथ ही कम्यूनों द्वारा संगठित ग्रामीण शिक्षा प्रणाली भी ध्वस्त हो गयी। स्कूल की इमारतों और शिक्षकों की तनख़्वाहों के लिए सरकार से मिलने वाला सहयोग कम हो गया या पूरी तरह समाप्त कर दिया गया। कुछ धनी गाँवों में भले ही अपने स्कूल हों लेकिन ग़रीबी से जूझ रहे अधिकांश गाँवों में स्कूल चलाने के लिए स्रोत-संसाधन ही नहीं हैं। 1990 के आरम्भ में ही इन गाँवों के स्कूलों की इमारतें जर्जर हो गयी थीं और उनकी मरम्मत की ज़रूरत थी। कई शिक्षकों ने महीनों तक बिना तनख्वाह के ही बच्चों को पढ़ाना जारी रखा, पर धीरे-धीरे वह भी बन्द हो गया।

तीस वर्षों के कठोर श्रम के बाद, चीन के किसान एक बार फिर पुरानी स्थिति में लौट आये हैं। वे आदिम उपकरणों से खेती करते हैं और प्राकृतिक या मानव निर्मित आपदाओं के दौरान लाचार होते हैं। सरकार से किसी तरह का सहयोग मिलना तो दूर की बात है, बल्कि नौकरशाह अब किसानों से शुल्क वसूलते हैं और डेवलपरों से सौदा होने पर उन्हें ज़मीन से बेदखल कर देते हैं।

तीस वर्षों के "सुधार" ने चीन के पर्यावरण और प्राकृतिक संसाधनों को नष्ट कर डाला है

चीन में सीमित प्राकृतिक संसाधन और बेहद कम खेती योग्य जमीन है। ऐसे में चीन में किसी भी तरह का दीर्घकालिक विकास प्राकृतिक संसाधनों और खेती योग्य जमीन के संरक्षण पर ही आधरित हो सकता है। लेकिन तीस वर्षों के पूँजीवादी सुधारों में देश के लिए ज़रूरी नीतियों से उलट नीतियों पर अमल किया गया।

चीन में विश्व की खेती योग्य ज़मीन का केवल 9 प्रतिशत है, जबकि उसे दुनिया की 22 प्रतिशत आबादी को भोजन उपलब्ध कराना होता है। सुधारों के आरम्भ से अब तक कृषि भूमि को औद्योगिक और व्यापारिक इस्तेमाल के लिए देने और किसानों द्वारा खेती नहीं करने के कारण खेती योग्य ज़मीन में काफ़ी कमी आयी है।

इसके अलावा, चीन में प्रति व्यक्ति केवल 2,000 क्यूबिक मीटर पानी ही उपलब्ध है, जोकि पूरी दुनिया में उपलब्ध औसत पानी का एक चौथाई है। औद्योगिक उत्पादन और शहरीकरण की ऊँची दर के कारण पानी की खपत बढ़ गयी है, जिससे सिंचाई और ग्रामीण आबादी को बेहद कम पानी मयस्सर होता है। चीन के जल संसाधन मन्त्रालय की एक रिपोर्ट के अनुसार, चीन की कुल 114,000 किलोमीटर की लम्बाई वाली नदियों में से 28.9 पानी प्रतिशत ही अच्छी गुणवत्ता का है और 29.8 प्रतिशत पानी की गुणवत्ता कम है। 16.1 प्रतिशत पानी मनुष्यों के छूने लायक भी नहीं है और नदियों का शेष 25.2 प्रतिशत पानी इतना प्रदूषित हो चुका है कि उसे किसी काम में नहीं लाया जा सकता।

प्रदूषण का यह आलम है कि 1990 के दशक के अन्त में, क्षेत्र के 17 करोड़ लोगों की ज़रूरतों को पूरा करने वाली पीली नदी 226 दिनों तक सूखी रही। नदियाँ ही नहीं, बल्कि चीन में भूमिगत जल भी तेज़ी से कम हो रहा है। जल संसाधन मन्त्रालय के ही अनुसार, भूमिगत जल के तेज़ी से घटते स्तर ने भूकम्पों और भूस्खलनों के ख़तरे तथा ज़मीन के बंजर होने की समस्या को और बढ़ा दिया है। जल प्रदूषण के साथ ही, वायु और भूमि प्रदूषण की समस्या भी बहुत गम्भीर हो चुकी है। दुनिया के 20 सबसे ज़्यादा प्रदूषित शहरों में से 16 चीन के शहर हैं। वायु प्रदूषण से शहरवासियों को साँस की गम्भीर बीमारियाँ हो रही हैं, जबकि जल और भूमि प्रदूषण ग्रामीण आबादी के लिए घातक साबित हो रहा है; कुछ गाँवों में, कैंसर की दर राष्ट्रीय औसत से 20 या 30 प्रतिशत अधिक है। प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक उपयोग और चीन के पर्यावरण की तबाही निर्यात को बढ़ाकर जीडीपी की उच्च दर को क़ायम रखने की अन्धाधुन्ध रणनीति का सीधा परिणाम है। पर्यावरण सम्बन्धी नियमों के उल्लंघन और भ्रष्ट सरकारी अधिकारियों ने भी चीन के पर्यावरण को नष्ट करने में भूमिका निभायी है।

चीनी जनता प्रतिरोध कर रही है...

पिछले तीस वर्षों के "सुधारों" के अनुभव से चीनी जनता को यह समझ आ गया है कि वास्तव में पूँजीवाद क्या है। कोई भी अब यह नहीं मानता कि चीन अब भी एक समाजवादी देश है। पूर्व राजकीय मज़दूरों को औद्योगिक क्षेत्र के उजरती मज़दूरों में तब्दील करके समाजवादी अर्थव्यवस्था को तहस-नहस करना और किसानों को ज़मीन से बेदख़ल करके प्रवासी मज़दूरों के रूप में काम करने के लिए मजबूर करना यूरोपीय देशों में शुरुआती पूँजीवादी विकास के आदिम पूँजी संचय जैसा ही है। लेकिन चीन के मज़दूर-किसान तीस वर्षों तक समाजवादी रूपान्तरण के दौर के गवाह रहे हैं। इसलिए वे जानते हैं कि माओ त्से-तुङ की सर्वहारा लाइन का अनुसरण करने वाली सच्ची कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में सामूहिक रूप से काम करके वे क्या हासिल कर सकते हैं।

पिछले 15 वर्षों में, "सुधार" की नीतियों का संगठित विरोध करने वालों की संख्या लगातार बढ़ी है। कई जगह छँटनीशुदा मज़दूरों ने फैक्ट्रियों को बेचने या उन्हें बन्द करने के विरोध में कुछ दिनों तक उन पर कब्ज़ा कर लिया। पुराने मज़दूरों ने पेंशन आदि लाभ के लिए विरोध प्रदर्शन किये हैं। किसानों ने पर्याप्त मुआवज़े के बिना भूमि के अधिग्रहण और उनके क्षेत्र में प्रदूषण फैलाने वाली फैक्ट्रियों के निर्माण का विरोध किया है। शहरी और ग्रामीण दोनों ही क्षेत्रों के बहुत से लोग पुलिस और स्थानीय अधिकारियों के अत्याचार का विरोध कर रहे हैं। वर्ष 2005 में, 100 या इससे अधिक लोगों वाले 74,000 प्रदर्शन हुए, जो 2006 में 90,000 की संख्या को पार कर गये। इसके बाद सरकार ने आँकड़े जारी करना ही बन्द कर दिया क्योंकि स्पष्टत: विरोध-प्रदर्शन की इस संख्या में और इज़ाफ़ा हुआ है।

एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि संशोधनवादियों द्वारा प्रचारित झूठों का भण्डाफोड़ करने वाले बुद्धिजीवियों की संख्या में भी लगातार वृद्धि हो रही है। इनमें से कई बुद्धिजीवी, "सुधारों" की शुरुआत होने पर इस भ्रम और झूठ का शिकार हो गए थे कि यह "चीनी विशेषताओं वाला समाजवाद" है। 1989 में छात्र आन्दोलन में शिरकत करने वाले कई बुद्धिजीवी भी यह मानते थे कि मुक्त बाज़ार की नीतियों को अपनाने से चीन की कई समस्याओं का समाधान हो जायेगा। लेकिन पिछले 15 वर्षों में, प्रगतिशील बुद्धिजीवियों ने ऐसे सभी झूठों का पर्दाफ़ाश करना शुरू कर दिया है। इन बुद्धिजीवियों ने "सुधारों" से पहले के क्रान्तिकारी दौर के तीस वर्षों की ज़बर्दस्त उपलब्धियों के आँकड़े पेश करके संशोधनवादियों के इस दावे की धज्जियाँ उड़ा दी हैं कि समाजवादी दौर में बहुत कम विकास हुआ था। जब संशोधनवादियों ने कहा कि समाजवादी युग के दौरान आत्मनिर्भरता पर आधारित चीन का विकास खुद पर थोपा हुआ निर्वासन था, तो इन्हीं बुद्धिजीवियों ने यह आरोप लगाते हुए इन दावों को ख़ारिज कर दिया कि संशोधनवादी विदेशी पूँजी, विदेशी तकनोलॉजी ओर विदेशी बाज़ारों पर अति-निर्भरता के चलते अपने देश को विदेशी एकाधिकारियों को सौंप रहे हैं, जिससे चीन की आर्थिक और राजनीतिक स्वायत्तता ख़त्म हो रही है।

पिछले दो वर्षों से इंटरनेट के माध्यम से, प्रकाशनों, सार्वजनिक मंचों के ज़रिये चीन में जीवन्त और ज़बर्दस्त बहसें छिड़ी हुई हैं। इन चर्चाओं और बहसों का दायरा और गहराई सुधार शुरू होने के समय की तुलना में कहीं अधिक है। अब "सुधारों" पर भी पहले से अधिक कठोर और प्रत्यक्ष हमले हो रहे हैं, जिसके चलते "सुधारों" का समर्थन करने वाले अब बचाव की मुद्रा में आ गये हैं।

सितम्बर 2007 में, **चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की 17वीं कांग्रेस के प्रतिनिधियों को 170 लोगों द्वारा हस्ताक्षर किया गया एक पत्र सौंपा गया था जिसमें खुला आरोप लगाया गया था कि चीन की कम्युनिस्ट पार्टी में शक्तिशाली लोग अब चीन के सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करते और उन्होंने मार्क्सवाद- लेनिनवाद और माओवाद के सिद्धान्तों के साथ ग़द्दारी की है।** पिछले दो वर्षों में हुए परिवर्तनों से पता चलता है कि चीन के पूँजीवादी सुधारों का विरोध करने वाली ताकतें मज़बूत हो रही हैं। हालाँकि, इसमें कोई सन्देह नहीं कि दुनिया के अन्य किसी भी देश की तरह चीन में समाजवाद के लिए लम्बा, कठोर और उतार-चढ़ावभरा संघर्ष करना होगा। चीन की समाजवादी विरासत और माओ द्वारा बताया गया सिद्धान्त और व्यवहार का रास्ता इस संघर्ष को जीत के मुकाम तक ले जायेगा।

– संदीप

नताशा – एक महिला बोल्शेविक संगठनकर्ता

एक संक्षिप्त जीवनी

(पहली किश्त)

एल. काताशेवा

रूस की अक्टूबर क्रान्ति के लिए मज़दूरों को संगठित, शिक्षित और प्रशिक्षित करने के लिए हज़ारों बोल्शेविक कार्यकर्ताओं ने बरसों तक बेहद कठिन हालात में, ज़बर्दस्त कुर्बानियों से भरा जीवन जीते हुए काम किया। उनमें बहुत बड़ी संख्या में महिला बोल्शेविक कार्यकर्ता भी थीं। ऐसी ही एक बोल्शेविक मज़दूर संगठनकर्ता थीं नताशा समोइलोवा जो आख़िरी साँस तक मज़दूरों के बीच काम करती रहीं। इस अंक से हम 'बिगुल' के पाठकों के लिए उनकी एक संक्षिप्त जीवनी का धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। हमें विश्वास है कि आम मज़दूरों और मज़दूर कार्यकर्ताओं को इससे बहुत कुछ सीखने को मिलेगा। *–सम्पादक*

स्कूल और कॉलेज के दिन

पेशेवर क्रान्तिकारी बोल्शेविक कंकोर्डिया निकोलायेव्ना ग्रोमोवा–समोइलोवा हमारी पार्टी से उस समय जुड़ीं जब लेनिन के नेतृत्व में पुराने बोल्शेविकों की बुनियादी क़तारें ढाली जा रही थीं। कम्युनिज़्म के इतिहास में उनका नाम एक ऐसे व्यक्ति के रूप में दर्ज रहेगा जिसने इस लेनिनवादी सिद्धान्त पर कुशलता से अमल किया कि सर्वहारा के सबसे पिछड़े तबके को लड़ाकों की कतार में शामिल करना, सर्वहारा स्त्रियों को सक्रिय संघर्ष से जोड़ना आवश्यक है।

कामरेड समोइलोवा एक पादरी की बेटी थीं, और हालाँकि उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि सर्वहारा के अन्तरराष्ट्रीय और धर्मविरोधी विचारों के प्रतिकूल थी, इसके बावजूद वह साइबेरिया के इर्कुत्स्क, जहाँ उनका जन्म हुआ था, के रूसी जीवन के स्पष्ट अन्तरविरोधों से प्रभावित हुए बिना न रह सकीं।

हाईस्कूल के दौरान ही, कामरेड समोइलोवा युवा क्रान्तिकारियों के एक समूह के सम्पर्क में आ गयीं। हाईस्कूल की पढ़ाई पूरी करने के बाद वह अपनी शिक्षा पूरी करने के लिए सेण्ट पीटर्सबर्ग गयीं। वह फ़ौरन उन 'राजद्रोही' छात्रों की जमात में शामिल हो गयीं जिनसे जारशाही बड़े ही हिंसक ढंग से लड़ रही थी।

वह क्रान्तिकारी उभार के उस दौर में सेण्ट पीटर्सबर्ग पहुँची थीं जब मज़दूर तबका क्रान्तिकारी संघर्ष (1896 की सेण्ट पीटर्सबर्ग की हड़तालें) के मंच पर पहली बार सामान्य से अधिक ऊर्जा के साथ उभरा था, जब ज़ारशाही सरकार ने क्रान्तिकारी छात्रों की मार्क्सवादी विचारधारा के रूप में अकस्मात एक नये दुश्मन की शिनाख़्त की थी।

कामरेड समोइलोवा ख़ुद को आम युवा आन्दोलन से अलग नहीं रख सकीं। जिज्ञासु चेतना और दृढ़ चरित्र की धनी कामरेड समोइलोवा तत्काल ही योद्धाओं की कतार में शामिल हो गयीं।

पीटर और पॉल के किले में हुई एक भयावह घटना के बाद 1897 में सारे छात्र उग्र क्षोभ से भड़क उठे थे। एक राजनीतिक क़ैदी एम. एफ. वेत्रोवा ने एक लैम्प के मिट्टी के तेल से अपने कपड़े गीले करके आग लगा ली और बुरी तरह जल जाने से उनकी दर्दनाक मौत हो गयी। सशस्त्र पुलिस द्वारा सभी घटनाओं के बारे में इसी प्रकार की कहानी बतायी जाती थी, लेकिन विदेशों में ऐसी बातें की जा रही थीं कि दुर्व्यवहार के बाद वेत्रोवा को ज़िन्दा जला दिया गया था। इस भयावह घटना ने समोइलोवा पर गहरा प्रभाव डाला। छात्राओं ने इसके विरोध में प्रदर्शन करने और सभी विश्वविद्यालयों के तमाम छात्रों को जगाने का संकल्प किया। एक व्याख्यान कक्ष में बैठक बुलायी गयी। एक "समझदार" छात्रा ने विरोध प्रदर्शन आयोजित करने के ख़िलाफ़ भाषण दिया। तत्काल एक दूसरी छात्रा, जिसके बारे में कुछ ही लोग जानते थे और जो तब तक उतनी नामचीन नहीं थी, फौरन मंच पर आयी। विरोध प्रदर्शन का आह्वान करते हुए उसने ऊँचे और उत्तेजित स्वर में बोलना शुरू किया। वह समोइलोवा थीं। उनके जोशीले भाषण ने श्रोताओं को उद्वेलित कर दिया। सबने विरोध प्रदर्शन के पक्ष में वोट दिया।

समोइलोवा की जुझारू भावना ने स्वयं को अभिव्यक्त कर दिया था। अपने जीवन में पहली बार वह सार्वजनिक तौर पर बोली थीं, जो ख़ुद उनके लिए भी अनपेक्षित था।

उस पहले भाषण ने उनका भावी जीवन तय कर दिया। उन्होंने पूँजीवादी विज्ञान के "गम्भीर अध्ययन" को त्याग दिया जिसे विश्वविद्यालयों के ज़ारशाही समर्थक प्राध्यापकों ने मृत और जीवन से काटकर अलग कर दिया था।

सरकार ने 1901 में इस आशय का क़ानून पारित किया कि गड़बड़ी करने वाले छात्रों को अनिवार्य भर्ती के तहत फ़ौरन सेना में भर्ती किया जाये। उस विशाल देश में जहाँ शिक्षित लोग अज्ञान और अशिक्षा के सागर में बूँद की तरह थे, इस क़ानून ने छात्रों के मन में गुस्से की आग भड़का दी। प्रतिरोध करने वालों में समोइलोवा भी शामिल थीं।

नतीजतन उनके कमरे पर छापा मारा गया, गिरफ़्तार करके उन्हें जेल भेजा गया और विश्वविद्यालय से निकाल दिया गया।

फरवरी 16, 1901 को सेण्ट पीटर्सबर्ग में छात्र आन्दोलन जारी रखने के मुद्दे पर चर्चा करने के लिए छात्रा फ़ोकिना के कमरे में आयोजित प्रतिनिधियों की एक बैठक से समोइलोवा को गिरफ़्तार कर लिया गया। समोइलेवा के कमरे की तलाशी के दौरान क्रावचिंस्की का प्रतिबन्धित उपन्यास 'आन्द्रे कुझुखोव', चेर्नीशेव्स्की का उपन्यास 'क्या करें?' और एक रिवॉल्वर मिली।

आरोप लगाये जाने पर समोइलेवा ने स्वीकार किया कि वह फ़ोकिना के कमरे में इसलिए नहीं गयी थीं कि उससे परिचित थीं बल्कि इसलिए गयी थीं कि उन्हें पता था कि छात्र वहाँ जमा होते थे। उस बैठक में उन्होंने छात्र आन्दोलन को जनता और प्रेस से पर्याप्त समर्थन न मिलने पर चर्चा की। उन्हें वे किताबें एक छात्रा से मिली थीं और रिवॉल्वर वह साइबेरिया से ले आयी थीं जहाँ उन्होंने उसे सुरक्षा के लिए रखा था। उन पर लगाये गये आरोप तीन महीने बाद ख़ारिज हो गये, इस बीच समोइलेवा को हिरासत में रखा गया; लेकिन उन्हें विश्वविद्यालय छोड़ना पड़ा।

तीन महीने की इस प्रारम्भिक कैद ने समोइलेवा को यह देखने का मौका दिया कि ज़ारशाही की असलियत क्या थी, और इसमें सन्देह नहीं कि इस अनुभव ने क्रान्ति के लिए अपना जीवन समर्पित करने के उनके फैसले को और भी मज़बूत किया। उन्होंने विदेश जाने और अलग और अपेक्षाकृत अधिक मुक्त परिस्थितियों में अपना अध्ययन जारी रखने का निश्चय किया, जिसमें इतना बर्बर व्यवधान पड़ गया था।

अक्तूबर 11, 1902 को वह पेरिस के लिए रवाना हुईं। पेरिस में फ्री रशियन स्कूल ऑफ सोशल साइन्सेज़ नाम का एक स्कूल था। उसका संचालन बुर्जुआ उदारवादी प्राध्यापकों का एक समूह करता था, उदार विचारों की वजह से रूसी विश्वविद्यालयों में उनके पढ़ाने पर पाबन्दी लगा दी गयी थी। रूसी विश्वविद्यालयों में ठहराव आ जाने के बाद ज्ञान के भूखे नौजवानों के झुण्ड इस स्कूल में पहुँचते थे।

उन दिनों लेनिन का अखबार *इस्क्रा* ("चिंगारी") पेरिस से प्रकाशित होता था और लेनिन और इस अखबार के उनके सहकर्मी उन सबसे ज़हीन युवाओं को, जिन्होंने ज़ारशाही का दमन झेला था और उससे बचने के लिए पेरिस आ गये थे, उन उदारवादी प्राध्यापकों के प्रभाव से निकालने के लिए व्यग्र थे। लिहाजा वे भी इस स्कूल में लेक्चर देते थे और उसका उपयोग रूस में क्रान्तिकारी सामाजिक–जनवादी मज़दूर समुदाय में काम करने के लिए प्रचारकों के प्रशिक्षण के छोटे–छोटे कोर्स चलाने के लिए करते थे।

समोइलेवा इन कोर्सों से जुड़ीं और उनकी उत्साही छात्रा बन गयीं। इस तरह उन्हें मार्क्सवादी अध्ययन के स्कूल में पढ़ने और स्वयं लेनिन के प्रत्यक्ष मार्गदर्शन में सैद्धान्तिक प्रशिक्षण पाने का सुअवसर मिल गया।

पहली रूसी क्रान्ति के दौरान व्यावहारिक कार्य (त्वेर, एकातेरिनोस्लाव, ओदेस्सा, बाकू, मास्को और अन्य कस्बे)

समोइलोवा को व्यावहारिक काम का पहला अनुभव त्वेर में मिला जहाँ वह आरएसडीएलपी (रूसी सामाजिक–जनवादी मज़दूर पार्टी) के दूसरे अधिवेशन से कुछ ही दिन पहले 1903 की गर्मियों में पेरिस से लौटने के बाद सीधे पहुँचीं थीं। (अनुवादक की टिप्पणी: आजकल सामाजिक–जनवादी शब्द का अर्थ नकली कम्युनिस्ट होता है, लेकिन उन दिनों सच्चे कम्युनिस्ट सामाजिक–जनवादी ही कहलाते थे।)

समोइलोवा के त्वेर पहुँचने से कुछ ही दिन पहले आरएसडीएलपी की त्वेर कमेटी पर छापा मारकर उसके ज्यादातर सदस्यों को गिरफ़्तार कर लिया गया था। इस तरह समोइलोवा का आगमन सही समय पर हुआ। वह कमज़ोर पड़ गये सामाजिक–जनवादी संगठन को मजबूत करने आयी थीं, जो विदेश से *इस्क्रा* द्वारा भेजे जाने वाले निर्देशों के तहत संघर्ष चला रहा था।

गिरफ़्तारी से किसी तरह बच गये कामरेडों ने उनका गर्मजोशी से स्वागत किया, और जल्द ही वह कमेटी की सदस्य चुन ली गयीं। समोइलोवा ने पहली मुलाक़ात में त्वेर कमेटी की सदस्य कामरेड कुदेल्ली पर जो छाप छोड़ी वह उसका वर्णन इस तरह करती हैं:

"वह नौजवान लड़की थीं," वह कहती हैं, "लम्बी, छोटी–भूरी चमकीली आँखों और चमकदार, धूप से सँवलाई रंगत वाली। उनका चेहरा–मोहरा असमान था और उनकी हल्की तिरछी भौहें उनको किसी हद तक मंगोलियाई या चीनी शक्ल–सूरत प्रदान करती थीं। कुल मिला कर वह हँसमुख और मिलनसार व्यक्ति का प्रभाव छोड़ती थीं। उनको देखना आनन्ददायी होता था। उन्हें देख कर लगता था कि जैसे वह हमेशा सेवा के लिए प्रस्तुत हों, अपने काम में दिलोजान से लग जाने के लिए तैयार हों।"

ज़ारशाही रूस में भूमिगत रह कर काम करने वाले क्रान्तिकारियों के रिवाज़ के मुताबिक कामरेड समोइलोवा ने अपनी पहचान छिपाने के लिए एक छद्म नाम रख लिया। कामरेड उन्हें "नताशा" कहने लगे और अपने गुप्त क्रान्तिकारी काम की पूरी अवधि के दौरान वह इसी नाम से जानी जाती रहीं। (भूमिगत जीवनकाल की चर्चा करते समय हम समोइलोवा को "नताशा" ही कहेंगे)।

वह प्रचार–कार्य को समझती थीं क्योंकि पेरिस की सामाजिक–जनवादी कक्षाओं में उन्हें उसका प्रशिक्षण मिला था और इसलिए भी कि त्वेर कमेटी के कामों में प्रचार–कार्य सबसे लचर था।

त्वेर कमेटी के सदस्य की हैसियत से उन्होंने कमेटी की रणनीतिक और सांगठनिक दिशा तय करने में भागीदारी की जिसे कि गिरफ़्तारियों के बाद नये सिरे से संगठित करने की जरूरत थी। यहाँ उन्होंने फ़ौरन साबित कर दिखाया कि उन्हें *इस्क्रा* की सांगठनिक योजनाओं में महारत हासिल है, कि वह "दोस्तों के आहत होने" की परवाह किये बिना लगातार ऐसी रणनीतियाँ अपनाने में सक्षम हैं जिन्हें वह सही समझती हैं।

हालाँकि उन्हें कोई अनुभव नहीं था और वह पहली बार व्यावहारिक काम कर रही थीं लेकिन उन्होंने त्वेर कमेटी के काम–काज की ख़ामियों को समझ लिया – उसकी बिखरी प्रकृति, निरन्तरता के अभाव, और उन दूसरी ख़ामियों को जिनका ज़िक्र लेनिन के *इस्क्रा* ने किया था।

नताशा के त्वेर आने के कुछ ही दिनों बाद दूसरे अधिवेशन में, जिसका आयोजन 1903 में विदेश में हुआ, आरएसडीएलपी बोल्शेविक और मेंशेविक, दो धड़ों में बँट गयी। विभाजन की खबर मिलने पर आरएसडीएलपी की त्वेर कमेटी और पूरा संगठन लेनिन के नेतृत्व का अनुसरण करने वाले क्रान्तिकारी मार्क्सवादी धड़े में शामिल हो गया और उसके बाद से स्वयं को बोल्शेविक कहने लगा। नताशा भी बोल्शेविकों के साथ जुड़ गयीं।

लेकिन उन्हें जल्द ही त्वेर छोड़ना पड़ा। उन्होंने अपने प्रचार–कार्य को अभी बढ़ाना शुरू ही किया था कि जाड़े का मौसम आ गया; और सर्दियों के मौसम में जंगलों में बैठकें आयोजित नहीं की जा सकती थीं और उनके सामने यह सवाल उठ खड़ा हुआ कि अपनी बैठकें वे कहाँ किया करें। चूँकि मज़दूरों के साथ बहुत ही कम सम्पर्क था इसलिए जो भी कमरा दे सकता था उन्हें उसे स्वीकार करना पड़ता था। उनके समूह में घुस आये एक ग़द्दार ने सशस्त्र पुलिस को उनके बारे में बता दिया और नताशा को भूमिगत हो जाना पड़ा। संयोग से मज़दूरों ने उस ग़द्दार को मार डाला।

उनके भूमिगत रहकर काम करने की अगली जगह एकातेरिनोस्लाव (अब द्नीप्रोपेत्रोव्स्क) थी। यहाँ के हालात त्वेर से बिलकुल अलग थे। त्वेर उत्तरी रूस के कपड़ा उद्योग क्षेत्र में स्थित था जहाँ दक्षिण के खान और धातुकर्म उद्योग, एकातेरिनोस्लोव जिसका केन्द्र था, के मुक़ाबले मज़दूरों का शोषण अधिक होता था। उत्तरी कपड़ा उद्योग क्षेत्र में मज़दूरी सबसे कम थी और चौदह–सोलह घण्टे काम करना पड़ता था। और त्वेर के संगठन समेत समूची नार्दर्न वर्कर्स यूनियन लेनिन और *इस्क्रा* की बनायी हुई नीतियों पर अमल करती थी।

दूसरी ओर, दक्षिण में विदेशी पूँजी की बदौलत पूँजीवादी विकास अधिक हुआ था, लोहा और इस्पात उद्योग बहुत विकसित था। वहाँ के मज़दूरों की स्थिति उत्तर के कपड़ा उद्योग के मज़दूरों से काफी बेहतर थी। स्थिति अधिक जटिल थी और मेंशेविक प्रभाव भी अधिक था। ख़ास तौर से नब्बे के दशक की औद्योगिक तेज़ी के दौरान जब रेलमार्ग के द्रुत निर्माण की वजह से रेलों के बड़े–बड़े आर्डर पूरे किये जा रहे थे, दक्षिण के सर्वहारा की स्थिति उत्तर के कपड़ा उद्योग मज़दूरों के मुक़ाबले काफी अच्छी थी – उन्हें वेतन अधिक मिलता था, काम के घण्टे कम थे, वगैरह।

लेकिन नताशा के पहुँचने के कुछ ही दिन पहले इस जिले के मज़दूरों ने रूसी मज़दूर आन्दोलन

(पेज 10 पर जारी)

नताशा – एक महिला बोल्शेविक संगठनकर्ता

(पेज 9 से आगे)

के इतिहास में एक गौरवशाली पन्ना जोड़ा था। उन्होंने लाल झण्डे के साथ "ज़ारशाही मुर्दाबाद", "काम के घण्टे आठ करो" – जैसे नारे लगाते हुए सिलसिलेवार कई हड़तालें और प्रदर्शन किये थे। पुलिस और सेना के साथ कई झड़पें हुई थीं जिनमें कितने ही लोग मारे गये थे और घायल हुए थे और जेलें क़ैदियों से भर गयी थीं जिनके साथ बर्बर दुर्व्यवहार किया गया।

"अदम्य बोल्शेविक" नताशा

आम तौर पर हालात कठिन थे और हालाँकि बड़े कारख़ानों के मज़दूर बोल्शेविकों के साथ सहानुभूति रखते थे लेकिन शहरी ज़िलों में मेंशेविकों की भरमार थी। इन कठिन हालात में नताशा ने स्वयं को अदम्य बोल्शेविक साबित किया और अन्तिम साँस तक वैसी ही बनी रहीं। जब नताशा एकातेरिनोस्लाव में काम कर रही थीं उस वक्त एकातेरिनोस्लाव कमेटी के सदस्य रहे कामरेड एगोरोव थे जो उनकी गतिविधियों का इस प्रकार ब्योरा देते हैं :

"मैं सांगठनिक काम करता था जबकि नताशा प्रचार और क़स्बे में सम्पर्क का काम करती थीं। कठिन वक़्त था वह। हम शाम के वक्त सांगठनिक और प्रचार-कार्य करते थे जबकि रात में, जब हम थके होते थे, हम प्राय: बैठकर परचे तैयार करते थे। नताशा मुझे उकसाती रहतीं। मैं प्राय: थकान से चूर होकर सर हिलाता रहता और मेरे दिमाग में कोई विचार ही न आता। उसके बाद अपना ओवरकोट फर्श पर बिछाकर मैं उस पर लेट जाता। सुबह नताशा मुझे जगातीं और फिर से काम के लिए तैयार करतीं। इन कामों के अलावा हमें मेंशेविकों से भी लड़ना पड़ता था जो संगठन को अपने हाथ में कर लेना चाहते थे। यह कठिन और अड़ियल लड़ाई थी क्योंकि कमेटी में कुछ ढुलमुल तत्व थे जो मेंशेविकों के सम्पर्क में थे। उनकी रणनीति यह थी कि एकातेरिनोस्लाव में जो भी मेंशेविक आ जाये उसे मज़दूर संगठनों में घुसा दिया जाये। नाताशा और मुझे इन हमलों को नाकाम करके मज़दूर संगठनों पर अपना प्रभाव बनाये रखना था। फ़ैक्ट्री वाले जिलों में अपना प्रभाव बनाये रखने के लिए हमें अपना पूरा ज़ोर लगाना पड़ा, लेकिन हम कामयाब रहे। नताशा ने मज़दूर समूहों के बीच अपनी गतिविधियाँ चलाने में अपनी सारी ऊर्जा और ताक़त झोंक दी। हमारी हर शाम इस काम के लिए समर्पित थी। इसके अलावा हमें एक छापाख़ाना और मुद्रित सामग्री के वितरण के लिए तकनीकी मशीनरी का भी बन्दोबस्त करना था। मुझे याद है कि कामरेडों की अनुभवहीनता के चलते छपी सामग्री की पहली खेप का नुकसान हो गया था और हमें घोर निराशा हुई थी। सच है कि वह हमारे पास का सारा साहित्य नहीं था लेकिन हज़ारों प्रतियाँ बेकार हो गयी थीं। लेकिन हमारी जीत यह थी कि उसी दिन, सशस्त्र पुलिसकर्मियों को धता बताकर फ़ैक्ट्रियों में बड़ी तादाद में बचे हुए परचे बाँट दिये गये। परचों की वह खेप दुर्घटनावश हमारे हाथ से निकल गयी थी। हुआ यह था कि चौकसी कर रहे एक पुलिसकर्मी ने परचों को अन्दर लाते देख लिया और उसे सन्देह हुआ कि वह चोरी का माल है और उसने घर में छापा मार दिया।

"एकातेरिनोस्लोव में नताशा अपने निजी पासपोर्ट पर रह रही थीं। त्वेर वाले मामले पर पुलिस विभाग की ओर से जारी सरकुलर से उनके बारे में जानकारी पाकर सशस्त्र पुलिस उनके पीछे लग गयी। मैंने उनसे एक गैरक़ानूनी पासपोर्ट बनवा लेने का अनुरोध किया और तकरीबन उन्हें राज़ी कर ले गया था लेकिन तब तक काफ़ी विलम्ब हो चुका था। उन्हें गिरफ़्तार करके त्वेर ले जाया गया जहाँ उनके ख़िलाफ़ त्वेर और एकातेरिनोस्लोव के मामलों में आरोप लगाये गये। उनकी गिरफ़्तारी संगठन के लिए भारी आघात थी हालाँकि वह इकलौती कामरेड थीं जिन्हें गिरफ़्तार किया गया था। मुझे राजनीतिक पुलिस की रणनीति का अनुभव था और मैंने ताड़ लिया था कि वे उनका पीछा कर रहे हैं। लेकिन लम्बे समय तक वह यही सोचती रहीं कि मैं ज़रूरत से ज़्यादा सन्देह कर रहा हूँ। उन्हें यकीन आया तब तक काफ़ी देर हो चुकी थी।

"मैंने एकातेरिनोस्लोव में आख़िरी बार उन्हें पुलिस थाने की हवालात के सीखचों के पीछे देखा। हवालात की खिड़की सड़क की तरफ खुलती थी और किसी ने मुझसे कहा कि मुझे उनसे मिलने की अनुमति माँगनी चाहिए। मैंने सोचा कि मैं इसका लाभ उठाऊँगा और अलविदा कहने जाऊँगा लेकिन जैसे ही मुझ पर उनकी नज़र पड़ी वह इतनी तेजी से अपना हाथ और सर हिलाने लगीं कि मुझे लगा कि मेरे लिए भी ख़तरा मँडरा रहा है और मुझे एकातेरिनोस्लाव से दूर चले जाना चाहिए। मैंने अपना सारा काम एक बोल्शेविक कामरेड के हवाले करके वैसा ही किया।"

नताशा चौदह महीने त्वेर की जेल में रहीं। उनकी बहन के लम्बे और लगातार आवेदनों के बाद मार्च 1905 में एक हज़ार रूबल की ज़मानत पर मास्को के पब्लिक प्रासीक्यूटर के आदेश पर उन्हें रिहा किया गया, जिसने उन्हें पुलिस की देख-रेख में रहने के लिए अपनी पसन्द के कस्बे के चुनाव की अनुमति दी थी।

नताशा ने अपना क्रान्तिकारी काम जारी रखने के लिए दक्षिण में लौटने का फ़ैसला लिया। पहले वह बड़े बन्दरगाह और नौपोत निर्माण केंद्र निकोलेयेव गयीं। लेकिन चूँकि उनकी निगरानी हो रही थी और जहाँ कहीं भी जातीं उसके बारे में पुलिस को सूचना देनी होती थी इसलिए वह भूमिगत काम नहीं कर सकीं। जल्द ही उन्होंने चोरी-छिपे नेकोलेयेव छोड़ दिया और ओदेस्सा चली गयीं।

जिन चौदह महीनों तक वह क़ैद में रहीं उस दौरान रूस का पूरी तरह कायाकल्प हो चुका था। देश में चारों तरफ क्रान्तिकारी उथल-पुथल मची हुई थी। जैसा कि लेनिन ने कहा, आश्चर्यजनक तेज़ी से घटनाएँ घटित हो रही थीं। लेकिन देश के शेष हिस्सों के मुक़ाबले दक्षिण कुछ पीछे था, और ओदेस्सा के सर्वहारा वर्ग ने जून की हड़ताल (जून 13-25, 1905) के इकलौते वाकये को छोड़कर सेण्ट पीटर्सबर्ग के सर्वहारा वर्ग के वीरोचित उदाहरण का अनुसरण नहीं किया।

ओदेस्सा का सामाजिक-जनवादी संगठन, जैसा कि नताशा ने जल्द ही भाँप लिया, लेनिन के बताये रास्ते पर नहीं चल रहा था।

ओदेस्सा कमेटी के सारे बोल्शेविक, जो पार्टी के तीसरे अधिवेशन के प्रस्तावों पर चर्चा और उनके अध्ययन के लिए जमा हुए थे, गिरफ़्तार करके जेल में डाल दिये गये। उससे ऐन पहले गुप्त छापाखाना ढूँढ़ा और ज़ब्त कर लिया गया था। महज कुछ गिने-चुने, अलग-थलग पड़े जुझारू बोल्शेविक ही बचे रह गये थे, जो हाल ही में ओदेस्सा पहुँचे थे और जिन्हें पार्टी संगठन के लोगों से ठीक से सम्पर्क करने का समय नहीं मिल सका था। इन्हीं बोल्शेविकों में नताशा भी थीं।

इस तरह क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादियों का नेतृत्व बहुत कमज़ोर था। जो कुछ बचा रह गया था उनमें थी, मेंशेविक कमेटी, द बुन्द, कुछ छिट-पुट बोल्शेविक और चन्द बिचौलिये। (बुन्द यानी यहूदी लेबर लीग-मेंशेविक ऐसा संगठन था, जो यहूदी सांस्कृतिक स्वायत्तता, और यहूदी मज़दूरों के एक अलग संगठन की स्थापना को अपने कार्यक्रम में सबसे अधिक महत्व देता था।) जब ऐतिहासिक दिन शुरू हुए तो नताशा को काम करने का वक्त ही नहीं मिला था। पहली मई से हड़तालें शुरू हुईं और लगभग पूरे महीने चलती रहीं। मज़दूरों की भावनाएँ इतनी उत्तेजित थीं कि मामूली झटका एक बड़ा और फ़ैसलाकुन आन्दोलन खड़ा कर सकता था।

जून के प्रारम्भ में जब मज़दूरों के चुने हुए प्रतिनिधि गिरफ़्तार किये गये तो जनता ने उनकी रिहाई की माँग की और जनदबाव में अधिकारियों को उन्हें रिहा करना पड़ा। मज़दूर *मार्सेइएज़* गीत गाते हुए अपने रिहा हुए कामरेडों को घर ले गये।

एक मामूली-सी घटना ने बारूद की नली में होने वाली कौंध की तरह जनता की दबी हुई ऊर्जा को निर्बन्ध कर दिया और उसी पल से ओदेस्सा के प्रसिद्ध 'जून दिनों' का श्रीगणेश हुआ। 13 जून को *कज़्ज़ाकों* ने हान फ़ैक्टरी पर शान्तिपूर्ण और निहत्थे मज़दूरों पर हमला बोलकर गोलीबारी शुरू कर दी। उन्होंने दो मज़दूरों की हत्या कर दी और कइयों को घायल कर दिया। आसपास के इलाकों के लोगों ने हड़तालें शुरू कर दीं और उसके बाद सारा कस्बा उसमें शामिल हो गया। पुलिस और सेना के साथ टकराव हुए। मज़दूरों ने मोर्चाबन्दी कर दी और सड़कों पर रक्तरंजित लड़ाई शुरू हो गयी। मज़दूरों ने सामाजिक-जनवादियों से खुद को हथियार मुहैया कराने का अनुरोध किया। सेना आ गयी। उनके पीछे से महाविपत्तियाँ आयीं, फ़ैक्टरियों के भोंपू बज उठे, ज़बरदस्त भीड़ नेसिप की ओर, रेलवे के तटबन्ध की ओर बढ़ीं, जहाँ मज़दूरों ने एक ट्रेन रोक रखी थी, यात्रियों को गाड़ी से उतार कर उन्होंने इंजन की भाप निकाल दी। कज़्ज़ाक आये, लेकिन जब उन्होंने एक भारी भीड़ देखी, कृतसंकल्प और अवज्ञाकारी भीड़, तो उन्होंने हाथ लहराये और पलटकर वापस चले गये। रेलवे के पुल के पास इतनी बड़ी सभा हुई कि इतनी बड़ी सभा इससे पहले रूस में कभी देखी नहीं गयी थी। सामाजिक-जनवादी वक्ताओं के उत्तेजक भाषणों ने मज़दूरों की भावनाओं को और भी भड़का दिया, उनकी वर्गीय चेतना को जगाकर उनकी एकजुटता को और भी मज़बूत कर दिया।

अगले दिन, जून 14 को ओदेस्सा के सारे मज़दूर हड़ताल पर चले गये। शहर अजीब-सा दिखने लगा। स्टोर, कार्यशालाएँ और दफ़्तर सभी बन्द थे। एक भी फ़ैक्टरी, एक भी वर्कशॉप नहीं खुली थी। सड़कों पर ट्रामकारें रोक दी गयी थीं। बहुतों को उलट दिया गया था और गाड़ियों और दूसरी चीजों के साथ उनका भी बैरिकेड के रूप में प्रयोग किया जा रहा था। नौजवानों ने भी इसमें भाग लिया और आन्दोलनकारियों के रूप में भाषण दिये।

सेना और पुलिस के साथ हर जगह टकराव हो रहे थे। कज़्ज़ाकों की तलवारों और पुलिस की गोलियों ने मज़दूरों का ख़ून बहाया। गुस्साये मज़दूरों ने हथियारों के लिए चीख-पुकार मचायी लेकिन हथियार नदारद थे... ऐसा लग रहा था कि जैसे कोई रास्ता ही नहीं बचा था... उसके बाद अचानक 14 जून की शाम क्रान्ति का लाल परचम लहराते पहले क्रान्तिकारी युद्धपोत को ओदेस्सा के बन्दरगाह में आते देखकर वे सुखद आश्चर्य से भर गये।

बाज़ी पलट गयी थी। पुलिस ने तत्काल बन्दरगाह खाली कर दिया। उल्लास से भरी उत्तेजित भीड़ पोतेमकिन की अगवानी के लिए लपकी।

युद्धपोत पोतेमकिन में उसी तरह का विद्रोह भड़क उठा था जैसा मज़दूरों के बीच भड़का था। सामाजिक-जनवादी आन्दोलन नाविकों के बीच पहले ही चलाया गया था लेकिन उसके विद्रोह की शुरुआत पूरी तरह अनपेक्षित थी।

पोत की कमान सँभालने के लिए युद्धपोत पर तीस नाविकों की एक क्रान्तिकारी कमेटी का गठन किया गया। कमेटी ने बिना समय गँवाये कस्बे के मज़दूर संगठनों से सम्पर्क किया। एक साझा अधिवेशन बुलाया गया लेकिन उसमें मेंशेविक प्रभाव, अनिश्चय और ढुलमुलपन अपना असर दिखाने लगा। और बेशक़ीमती पल हाथ से निकल गये। हमला करने की बजाय – उस इकलौते रास्ते का सहारा लेने की बजाय, मार्क्सवाद हमें जिसकी शिक्षा देता है – काले सागर के स्क्वॉड्रन में दूसरे पोतों के आने का इन्तज़ार करने का फ़ैसला लिया गया।

चार बजे, युद्धपोत पर बैठक के बाद, सामाजिक-जनवादी संगठनों के प्रतिनिधि सागर तट पर आये और हथियारों और नेतृत्व की प्रतीक्षा कर रहे मज़दूरों के सामने घोषणा की कि नाविक किनारे पर नहीं आयेंगे और यह भी कि वे चाहें तो अपने-अपने घर लौट सकते हैं।

रात उतर आयी। और उसी के साथ प्रतिरोध, उकसावा और अपराध शुरू हो गया।

क़स्बे में पुलिस ने योजनाबद्ध ढंग से क़त्लेआम शुरू कर दिया। उन्होंने शराबख़ाने खोल दिये, "ब्लैक हण्ड्रेड" नाम के प्रतिक्रियावादी गिरोह के सदस्यों ने छककर शराब पी, गोदामों में आग लगा दी, उन्हें तहस-नहस कर डाला, घरों में आग लगा दी। कस्बे को आगज़नी, नरसंहार और तबाही के हवाले कर दिया गया।

नताशा ने जो उस समय ओदेस्सा में ही थीं, इस सबको बहुत ही गहराई से महसूस किया। वह अभी-अभी जेल से निकल कर आयी थीं। उन्हें सेण्ट पीटर्सबर्ग में पढ़ाई के दिनों में देखी ज़ारशाही की क्रूरता, जीवन पर लगी कठोर पाबन्दियाँ याद आयीं जहाँ प्रदर्शनकारी छात्रों के किसी समूह के दिखते ही कज़्ज़ाक उन पर चाबुक फटकारते, गोलियाँ बरसाते थे।

अब नताशा ने लेनिनवादी *इस्क्रा* के चट्टानी एकजुटता वाली पार्टी के लिए संघर्ष के आह्वान का मतलब बड़ी ही शिद्दत से महसूस किया जिसके बिना सर्वहारा की जीत नामुमकिन होती है। लेनिन का "पहले अलग करो और फिर एकजुट होओ" का नारा उनकी गतिविधियों का मार्गदर्शक सितारा बन गया, जिसका आशय था कि बोल्शेविकों को पहले निर्णायक रूप से मेंशेविकों से अलग हो जाने दो और फिर उनके साथ संगठित कार्रवाई के सवाल पर चर्चा करो।

नताशा ने मेंशेविक और बोल्शेविक रणनीति की व्याख्या पर सबसे ज़्यादा बल देते हुए ओदेस्सा में प्रचार-कार्य जारी रखा। लेकिन बोल्शेविक संगठन के मज़बूत होने और कुछ सांगठनिक सफलताओं के बावजूद बाद के घटनाक्रमों ने साबित किया कि नेतागण क्रान्तिकारी विकास को पीछे धकेल रहे हैं – जैसे अक्तूबर 1905 की घटनाओं में जब समूचे रूस में नये क्रान्तिकारी फैले हुए थे, मेंशेविक और बुन्दवादी ज़्यादा संगठित थे और नतीजतन बोल्शेविकों में बहुत से लोग समझौते और एकीकरण की प्रवृत्ति से ग्रस्त थे।

"अदम्य बोल्शेविक" नताशा, ओदेस्सा में उन्हें इसी नाम से जाना जाता था, ख़ुद पर काबू न रख सकीं। वह घटनाक्रमों के केन्द्र में रहने और सही बोल्शेविक रणनीति सीखने के लिए मास्को चली गयीं। वह ऐन सशस्त्र विद्रोह की रात मास्को पहुँचीं। वह उसके दमन तक वहीं रुकीं और उसके बाद ओदेस्सा लौट गयीं।

इन तमाम नाटकीय और ऐतिहासिक घटनाक्रमों ने उन पर गहरा प्रभाव डाला। नताशा को लगा कि वह महज़ प्रचार-कार्य को जारी रखने के लिए ओदेस्सा में रुकी नहीं रह सकतीं। उन्होंने खुद ही रोस्तोव-ऑन-दोन जाने का फ़ैसला किया। वहाँ भी सशस्त्र विद्रोह हुआ था। वह जानती थीं कि अब उनके सामने नये कार्यभार उपस्थित थे, रोस्तोव के सर्वहारा के लिए संघर्ष के हालिया रूपों के अनुभवों से सीखने और उनमें महारत हासिल करने का काम, सेना तैयार करने और उसको संगठित करने का काम ताकि नये विद्रोह को हथियारबन्द किया जा सके और सही ढंग से संगठित किया जा सके।

अनुवाद : विजयप्रकाश सिंह

(अगले अंक में जारी)

मक्सिम गोर्की की कहानी

कोलुशा

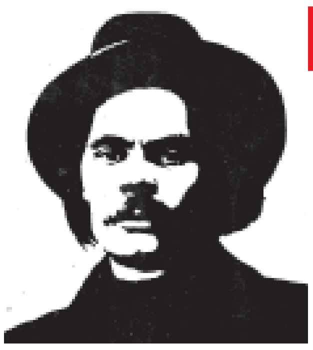

क़ब्रिस्तान का वह कोना, जहाँ भिखारी दफ़नाये जाते हैं। पत्तों से छितरे, बारिश से बहे और आँधियों से जर्जर क़ब्रों के ढूहों के बीच, दो मरियल-से बर्च वृक्षों के जालीदार साये में, जिंघम के फटे-पुराने कपड़े पहने और सिर पर काली शॉल डाले एक स्त्री एक क़ब्र के पास बैठी थी।

सफ़ेद पड़ चले बालों की एक लट उसके मुरझाये हुए गाल के ऊपर झूल रही थी, उसके महीन हौंठ कसकर भिंचे थे और उनके छोर उसके मुँह पर उदास रेखाएँ खींचते नीचे की ओर झुके थे, और उसकी आँखों की पलकों में भी एक ऐसा झुकाव मौजूद था जो अधिक रोने और काटे न कटने वाली लम्बी रातों में जागने से पैदा हो जाता है।

वह बिना हिले-डुले बैठी थी – उस समय, जबकि मैं कुछ दूर खड़ा उसे देख रहा था, न ही उसने उस समय कुछ हरक़त की जब मैं और अधिक निकट खिसक आया। उसने केवल अपनी बड़ी-बड़ी चमकविहीन आँखों को उठाकर मेरी आँखों में देखा और फिर उन्हें नीचे गिरा लिया। उत्सुकता, परेशानी या अन्य कोई भाव, जो कि मुझे निकट पहुँचता देख उसमें पैदा हो सकता था, नाममात्र के लिए भी उसने प्रकट नहीं किया।

मैंने अभिवादन में एकाध शब्द कहा और पूछा कि यहाँ कौन सोया है।

"मेरा बेटा," उसने भावशून्य उदासीनता से जवाब दिया।

"बड़ा था?"

"बारह बरस का।"

"कब मरा?"

"चार साल पहले।"

उसने एक गहरी साँस ली और बाहर छिटक आयी लट को फिर बालों के नीचे खोंस लिया। दिन गरम था। सूरज बेरहमी के साथ मुर्दों के इस नगर पर आग बरसा रहा था। क़ब्रों पर उगी इक्की-दुक्की घास तपन और धूल से पीली पड़ गयी थी। और धूल-धूसरित रूखे-सूखे पेड़, जो सलीबों के बीच उदास भाव से खड़े थे, इस हद तक निश्चल थे मानो वे भी मुर्दा बन गये हों।

"वह कैसे मरा?" लड़के की क़ब्र की ओर गरदन हिलाते हुए मैंने पूछा।

"घोड़ों से कुचलकर," उसने संक्षेप में जवाब दिया और अपना झुर्रियाँ-पड़ा हाथ फैलाकर लड़के की क़ब्र सहलाने लगी।

"यह दुर्घटना कैसे घटी?"

मैं जानता था कि इस तरह खोदबीन करना शालीनता के ख़िलाफ़ है, लेकिन इस स्त्री की निस्संगता ने गहरे कौतुक और चिढ़ का भाव मेरे हृदय में जगा दिया था। कुछ ऐसी समझ में न आने वाली सनक ने मुझे घेरा कि मैं उसकी आँखों में आँसू देखने के लिए ललक उठा। उसकी उदासीनता में कुछ था, जो अप्राकृतिक था, और साथ ही उसमें बनावट का भी कोई चिह्न नहीं दिखायी देता था।

मेरा सवाल सुनकर उसने एक बार फिर अपनी आँखें उठाकर मेरी आँखों में देखा। और जब वह सिर से पाँव तक मुझे अपनी नज़रों से परख चुकी तो उसने एक हल्की-सी साँस ली और अटूट उदासी में डूबी आवाज़ में अपनी कहानी सुनानी शुरू की।

"घटना इस प्रकार घटी। उसका पिता गबन के अपराध में डेढ़ साल के लिए जेल में बन्द हो गया। इस काल में हमने अपनी सारी जमा पूँजी खा डाली। यूँ हमारी वह जमा पूँजी कुछ अधिक थी भी नहीं। अपने आदमी के जेल से छूटने से पहले ईंधन की जगह मैं हार्स-रेडिश के डण्ठल जलाती थी। जान-पहचान के एक माली ने ख़राब हुए हार्स-रेडिश का गाड़ीभर बोझ मेरे घर भिजवा दिया था। मैंने उसे सुखा लिया और सूखी गोबर-लीद के साथ मिलाकर उसे जलाने लगी। उससे भयानक धुआँ निकलता और खाने का जायक़ा ख़राब हो जाता। कोलुशा स्कूल जाता था। वह बहुत ही तेज़ और किफ़ायतशार लड़का था। जब वह स्कूल से घर लौटता तो हमेशा एकाध कुन्दा या लकड़ियाँ – जो रास्ते में पड़ी मिलतीं – उठा लाता। वसन्त के दिन थे तब। बर्फ़ पिघल रही थी। और कोलुशा के पास कपड़े के जूतों के सिवा पाँवों में पहनने के लिए और कुछ नहीं था। जब वह उन्हें उतारता तो उसके पाँव लाल रंग की भाँति लाल निकलते। तभी उसके पिता को उन्होंने जेल से छोड़ा और गाड़ी में बैठाकर उसे घर लाये। जेल में उसे लकवा मार गया था। वह वहाँ पड़ा मेरी ओर देखता रहा। उसके चेहरे पर एक कुटिल-सी मुस्कान खेल रही थी। मैं भी उसकी ओर देख रही थी और मन ही मन सोच रही थी – 'तुमने ही हमारा यह हाल किया है, और तुम्हारा यह दोज़ख़ मैं अब कहाँ से भरूँगी? एक ही काम अब मैं तुम्हारे साथ कर सकती हूँ, वह यह कि तुम्हें उठाकर किसी जोहड़ में पटक दूँ।' लेकिन कोलुशा ने जब उसे देखा तो चीख़ उठा, उसका चेहरा धुली हुई चादर की भाँति सफ़ेद पड़ गया और उसके गालों पर से आँसू ढुरकने लगे। 'यह इन्हें क्या हो गया है, माँ?' उसने पूछा। 'यह अपने दिन पूरे कर चुका', मैंने कहा। और इसके बाद हालत बद से बदतर होती गयी। काम करते-करते मेरे हाथ टूट जाते, लेकिन पूरा सिर मारने पर भी बीस कोपेक से ज़्यादा न मिलते, सो भी तब, जब भाग्य से दिन अच्छे होते। मौत से भी बुरी हालत थी, अक्सर मन में आता कि अपने इस जीवन का अन्त कर दूँ। एक बार, जब हालत एकदम असह्य हो उठी, तो मैंने कहा – 'मैं तो तंग आ गयी इस मनहूस जीवन से। अच्छा हो अगर मैं मर जाऊँ – या फिर तुम दोनों में से कोई एक ख़त्म हो जाये!' – यह कोलुशा और उसके पिता की तरफ़ इशारा था। उसका पिता केवल गरदन हिलाकर रह गया, मानो कह रहा हो – 'झिड़कती क्यों हो? ज़रा धीरज रखो, मेरे दिन वैसे ही क़रीब आ लगे हैं।' लेकिन कोलुशा ने देर तक मेरी ओर देखा, इसके बाद वह मुड़ा और घर से बाहर चला गया। उसके जाते ही अपने शब्दों पर मुझे बड़ा पछतावा हुआ। लेकिन अब पछताने से क्या होता था? तीर हाथ से निकल चुका था। एक घण्टा भी न बीता होगा कि एक पुलिसमैन गाड़ी में बैठा हुआ आया। 'क्या तुम्हीं शिशेनीना साहिबा हो?' उसने कहा। मेरा हृदय बैठने लगा। 'तुम्हें अस्पताल में बुलाया है', वह बोला – 'तुम्हारा लड़का सौदागर आनोखिन के घोड़ों से कुचल गया है।' गाड़ी में बैठ मैं सीधे अस्पताल के लिए चल दी। ऐसा मालूम होता था जैसे गाड़ी की गद्दी पर किसी ने गर्म कोयले बिछा दिये हों। और मैं रह-रहकर अपने को कोस रही थी – 'अभागी औरत, तूने यह क्या किया?'

"आख़िर हम अस्पताल पहुँचे। कोलुशा पलंग पर पड़ा पट्टियों का बण्डल मालूम होता था। वह मेरी ओर मुस्कुराया, और उसके गालों पर आँसू ढुरक आये... फिर फुसफुसाकर बोला – 'मुझे माफ़ करना, माँ। पैसा पुलिसमैन के पास है।' 'पैसा...कैसा पैसा? यह तुम क्या कह रहे हो?' मैंने पूछा। 'वही, जो लोगों ने मुझे सड़क पर दिया था और आनोखिन ने भी', उसने कहा। 'किसलिए?' मैंने पूछा। 'इसलिए', उसने कहा और एक हल्की-सी कराह उसके मुँह से निकल गयी। उसकी आँखें फटकर ख़ूब बड़ी हो गयीं, कटोरा जितनी बड़ी। 'कोलुशा', मैंने कहा – 'यह कैसे हुआ? क्या तुम घोड़ों को आता हुआ नहीं देख सके?' और तब वह बोला, बहुत ही साफ़ और सीधे-सीधे, 'मैंने उन्हें देखा था, माँ, लेकिन मैं जान-बूझकर रास्ते में से नहीं हटा। मैंने सोचा कि अगर मैं कुचला गया तो लोग मुझे पैसा देंगे। और उन्होंने दिया।' ठीक यही शब्द उसने कहे। और तब मेरी आँखें खुलीं और मैं समझी कि उसने – मेरे फ़रिश्ते ने – क्या कुछ कर डाला है। लेकिन मौक़ा चूक गया था। अगली सुबह वह मर गया। उसका मस्तिष्क अन्त तक साफ़ था और वह बराबर कहता रहा – 'दद्दा के लिए यह ख़रीदना, वह ख़रीदना और अपने लिए भी कुछ ले लेना।' मानो धन का अम्बार लगा हो। वस्तुतः वे कुल सैंतालीस रूबल थे। मैं सौदागर आनोखिन के पास पहुँची, लेकिन उसने मुझे केवल पाँच रूबल दिये, सो भी भुनभुनाते हुए। कहने लगा – 'लड़का ख़ुद जान-बूझकर घोड़ों के नीचे आ गया। पूरा बाज़ार इसका साक्षी है। सो तुम क्यों रोज़ आ-आकर मेरी जान खाती हो? मैं कुछ नहीं दूँगा।' मैं फिर कभी उसके पास नहीं गयी। इस प्रकार वह घटना घटी, समझे युवक!"

उसने बोलना बन्द कर दिया और पहले की भाँति अब फिर सर्द तथा निस्संग हो गयी।

क़ब्रिस्तान शान्त और वीरान था। सलीब, मरियल-से पेड़, मिट्टी के ढूह और क़ब्र के पास इस शोकपूर्ण मुद्रा में बैठी यह मनोविकारशून्य स्त्री – इन सब चीज़ों ने मुझे मृत्यु और मानवीय दुख के बारे में सोचने के लिए बाध्य कर दिया।

लेकिन आकाश में बादलों का एक धब्बा तक नहीं था और वह धरती पर झुलसा देने वाली आग बरसा रहा था।

मैंने अपनी जेब से कुछ सिक्के निकाले और उन्हें इस स्त्री की ओर बढ़ा दिया जो, दुर्भाग्य की मारी, अभी भी जी रही थी।

उसने सिर हिलाया और विचित्र धीमेपन के साथ बोली –

"कष्ट न करो, युवक। आज के लिए मेरे पास काफ़ी है। आगे के लिए भी मुझे अधिक नहीं चाहिए। मैं एकदम अकेली हूँ। इस दुनिया में एकदम अकेली!"

उसने एक गहरी साँस ली और अपने पतले होंठ एक बार फिर उसी शोक से बल-खाई रेखा में भींच लिये। (1895)

क्रान्तिकारी कवि ज्वालामुखी नहीं रहे

जनसंघर्षों के साथी सांस्कृतिक योद्धा को हमारी श्रद्धांजलि

तेलुगु भाषा के क्रान्तिकारी कवि और जनपक्ष के प्रखर सांस्कृतिक योद्धा ज्वालामुखी का पिछले 14 दिसम्बर को हैदराबाद में निधन हो गया।

ज्वालामुखी एक कवि ही नहीं, अत्यन्त ओजस्वी वक्ता, सामाजिक-सांस्कृतिक मुद्दों पर लिखने वाले प्रखर टिप्पणीकार, उपन्यासकार और राजनीतिक-सामाजिक कार्यकर्ता भी थे।

18 अप्रैल 1938 को हैदराबाद में जन्मे ज्वालामुखी का मूल नाम वीरवल्ली राघवाचार्यालु था। अपने घर के धार्मिक परिवेश से विद्रोह करके नौजवानी में ही उन्होंने सामाजिक रूढ़ियों पर चोट करने वाली विद्रोही कविताएँ लिखनी शुरू कर दी थीं। वे उन युवा कवियों की 'दिगम्बरी पीढ़ी' के एक प्रमुख सदस्य थे जिन्होंने अन्याय और दासता भरी सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह तो किया लेकिन उनका विद्रोह दिशाहीन था। लेकिन ज्वालामुखी ने जल्दी ही वैज्ञानिक क्रान्तिकारी विचारधारा को अपना लिया और नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह की ऊष्मा से प्रेरित क्रान्तिकारी साहित्यिक आन्दोलन से जुड़ गये।

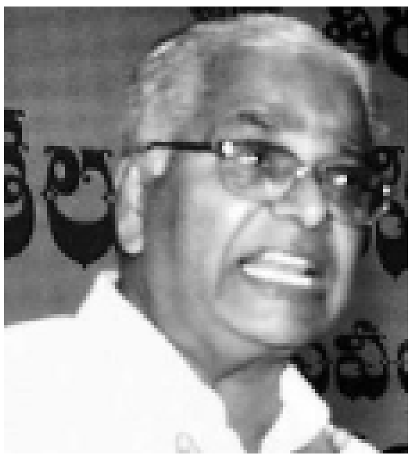

1970 में आन्ध्र प्रदेश में गठित क्रान्तिकारी लेखकों के संगठन विप्लवी रचयितालु संघम (विरसम) के वह संस्थापक सदस्य थे। उनकी कुछ कविताओं के कारण 1971 में उन्हें आन्ध्र प्रदेश नज़रबन्दी क़ानून के तहत गिरफ्तार कर लिया गया और जिस किताब में उनकी कविता छपी थी उसकी तमाम प्रतियाँ ज़ब्त कर ली गयीं। जेल से बाहर आकर ज्वालामुखी ने और भी निर्भीकता के साथ अपनी कलम और वाणी से शोषित-उत्पीड़ित जनता के पक्ष में काम करना शुरू कर दिया।

वे आन्ध्र प्रदेश में बेहद लोकप्रिय कवि-लेखक और हज़ारों-हज़ार लोगों को आलोड़ित करने की क्षमता वाले ओजस्वी वक्ता थे।

क्रान्तिकारी शिविर में ठहराव और बिखराव के कारण ज्वालामुखी बाद के वर्षों में क्रान्तिकारी आन्दोलन के साथ पहले जितनी नज़दीकी से नहीं जुड़े रह गये थे लेकिन जनता के संघर्षों के साथ वे आखिरी साँस तक बने रहे। वे आर्गनाइज़ेशन फ़ॉर पीपुल्स डेमोक्रेटिक राइट्स के सक्रिय सदस्य थे और जनसंघर्षों पर होने वाले राज्यसत्ता के दमन-उत्पीड़न और नागरिक अधिकारों के हनन का मुखर विरोध करने में हमेशा आगे रहते थे। जातीय उत्पीड़न, भेदभाव और स्त्रियों के दमन-उत्पीड़न के मुद्दों पर भी वे बेहद सक्रिय थे और अन्तिम समय तक देशभर में होने वाले विभिन्न आयोजनों में शिरकत करते रहते थे।

वे पुरस्कारों और पद-ओहदों के लिए लिखने वाले लेखक नहीं थे। उनकी हज़ारों कविताएँ तेलुगु पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं और कई अन्य भाषाओं में उनके अनुवाद भी हुए लेकिन उनके जीवन में उनका कोई कविता-संकलन प्रकाशित नहीं हुआ। वे एक कर्मठ और प्रतिबद्ध संस्कृतिकर्मी थे और आजीवन अपने उसूलों पर अडिग रहे।

'बिगुल' और इसके साथी संगठनों से ज्वालामुखी बहुत करीबी जुड़ाव महसूस करते थे। भारतीय समाज की सच्चाइयों और क्रान्ति की मंज़िल की पहचान करने और नये रास्तों के सन्धान की हमारी कोशिशों में बहुत से मतभेदों के बावजूद वे हमारी क्रान्तिकारी भावना और जोश के भागीदार थे और हमारे बहुत से आयोजनों में उनकी मौजूदगी युवा कार्यकर्ताओं के लिए प्रेरणादायी होती थी। हम 'बिगुल' की पूरी टीम और 'बिगुल' के सभी पाठकों की ओर से जनसंघर्षों के इस सहयोद्धा कवि को क्रान्तिकारी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

पंजीयन संख्या 71980/99 | डाक पंजीयन संख्या LW-NP/349/2006-08 | प्रेषक डाकघर – महानगर | प्रेषण तिथि– महीने का द्वितीय सप्ताह

आतंकवाद से लड़ने के नाम पर दो नये काले क़ानून

आतंकवाद के बहाने जनता के अधिकारों पर हमला

मुम्बई में आतंकी हमले के बाद यह तय हो गया था कि यूपीए सरकार आतंकवाद विरोधी कठोर क़ानून बनाने के लिए जिस बहाने की तलाश कर रही थी वह उसके हाथ लग गया है। हिन्दूवादी संगठनों के आतंकी गतिविधियों में लिप्त होने का खुलासा होने के बाद दूसरा कोई मुद्दा न होने के कारण यह भी तय था कि आगामी लोकसभा और विधानसभा चुनावों में भाजपा आतंकवाद और राष्ट्रवाद के मुद्दे को जोरशोर से उभारेगी। गृहमंत्री शिवराज पाटिल की लचर कार्यशैली और वैश्विक आर्थिक मन्दी के हालात में बढ़ती महँगाई के कारण बैकफुट पर आ गयी कांग्रेस को वोटबैंक की राजनीति में नरम हिन्दू कार्ड खेलने का सुनहरा मौका हाथ लग गया। आनन–फ़ानन में सरकार ने आन्तरिक सुरक्षा सम्बन्धी दो क़ानून लोकसभा में पेश कर दिये और निठल्ली बहसबाजी के लिए मशहूर राष्ट्रीय संसद में तमाम जनप्रतिनिधियों की मौजूदगी में आम नागरिक अधिकारों का गला घोंटने वाले दोनों क़ानून बिना किसी खास बहस–मुबाहसे के एकमत से पारित कर दिये गये।

पहला क़ानून गैरक़ानूनी गतिविधि निरोधक क़ानून, 1967 में संशोधन से सम्बन्धित है, जो आतंकवाद के आरोपियों पर मुकदमा चलाने की अबतक की प्रक्रिया में आमूलचूल परिवर्तन करता है, आरोपियों को पुलिस हिरासत में रखने की अधिकतम अवधि 90 दिनों से बढ़ाकर 180 दिन कर देता है और कोई आरोप लगाये बिना सन्देह के आधार पर गिरफ़्तारी करने का अधिकार देता है। इसके अलावा यह क़ानून ज़मानत की प्रक्रिया को बहुत अधिक कठिन बनाता है और विदेशी नागरिकों को ज़मानत पाने के अधिकार से लगभग पूरी तरह वंचित करता है। दुनिया भर में मौजूद और सदियों से चली आ रही क़ानूनी परम्परा को धता बताकर कई मामलों में यह क़ानून किसी आरोपी को तबतक गुनाहगार मानता है जबतक कि वह अपनी बेगुनाही खुद ही साबित न कर दे। इसके अलावा इस क़ानून ने जाँच एजेंसियों और पुलिस अधिकारियों के हाथ में ऐसे अधिकार दे दिये हैं जिनके दुरुपयोग की पूरी आशंका है। दूसरा क़ानून भी इसी से जुड़ा हुआ है और वह आतंकवाद और अन्य वैधनिक आरोपों की जाँच के लिए एक जाँच एजेंसी बनाने से सम्बन्धित राष्ट्रीय जाँच एजेंसी (एनआईए) क़ानून है।

बेशक आतंकवादी गतिविधियों की निन्दा की जानी चाहिए। लेकिन सवाल उठता है कि क्या ऊपर से किये जाने वाले किसी प्रयास, जैसे कि कोई नया कानून बना देने से आतंकवाद को ख़त्म किया जा सकता है? आतंकवाद है क्या और इसके मूल कारण क्या हैं? क्या इन कारणों का हल किये बग़ैर किसी कानून, सेना, पुलिस आदि से आतंकवाद से निपटा जा सकता है?

टाडा और पोटा जैसे क़ानूनों का कहर झेल चुकी देश की जनता के सिर पर अब एक ऐसा क़ानून मढ़ दिया गया है जो कई मामलों में उनसे भी ज़्यादा ख़तरनाक़ है। उल्लेखनीय बात यह है कि इस भयानक क़ानून को अमली जामा पहनाने वाली पार्टी वही कांग्रेस पार्टी है जिसने दुरुपयोग का आरोप लगाकर पोटा को वापस लिया था। संसदीय वामपन्थियों, तथाकथित समाजवादियों और दूसरी क्षेत्रीय पार्टियों को भी इस पर कोई ऐतराज नहीं है।

ग़ैरक़ानूनी गतिविधि निरोधक क़ानून (यू.ए.पी.ए.) न सिर्फ़ पोटा जैसा ही है बल्कि वह पोटा के दायरे और प्रभाव को और व्यापक और गहरा बनाता है। फ़र्क़ सिर्फ इतना है कि पुलिस हिरासत में दिया गया इकबालिया बयान इस क़ानून में मान्य नहीं है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि स्वयं को बेगुनाह सिद्ध करने की ज़िम्मेदारी आरोपी की ही होगी। आतंकवादी गतिविधियों की परिभाषा अस्पष्ट है और यह सरकार की मर्ज़ी पर होगा कि वह किसे आतंकवादी गतिविधि मानती है और किसे नहीं। आतंकवादी संगठन का सदस्य किसे कहा जा सकता है यह भी स्पष्टत: परिभाषित नहीं है। इसके साथ ही यह क़ानून सुरक्षा एजेंसियों के अधिकारियों को अनेक व्यापक अधिकार देता है। बिना किसी आरोप के किसी संदिग्ध व्यक्ति को न्यायालय में पेश करने से पहले हिरासत में रखने की न्यूनतम अवधि को 15 से बढ़ाकर 30 दिन और अधिकतम अवधि को 90 से बढ़ाकर 180 दिन कर दिया गया है, जो अन्तरराष्ट्रीय मानकों से भी बहुत अधिक है। इसके अलावा किसी दस्तावेज़, फ़ोन पर की गई बातचीत, मोबाइल संदेश, या किसी अन्य चीज़ के आधार पर किसी सन्दिग्ध व्यक्ति को गिरफ़्तार किया जा सकता है, लम्बे समय तक हिरासत में रखा जा सकता है और अन्य मानवाधिकारों से वंचित किया जा सकता है। समझा ही जा सकता है कि पुलिस द्वारा झूठे साक्ष्य गढ़ने और झूठी कहानी बनाने में ये प्रावधान कितने मददगार साबित होंगे।

पहेली – अन्तर पहचानो (द हिन्दू में प्रकाशित कार्टून)

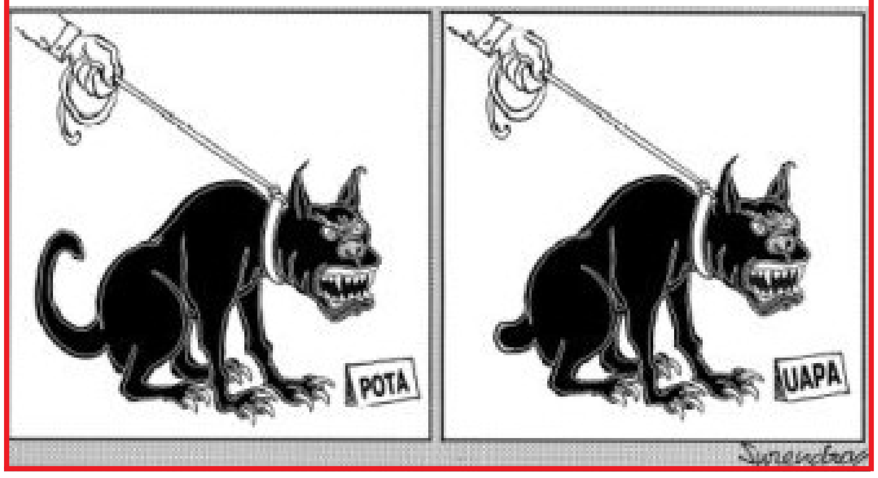

दूसरी ओर, नवगठित राष्ट्रीय जाँच एजेंसी सीधे केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में रहेगी और राज्य स्तर के क़ानून इसके समक्ष प्रभावी नहीं होंगे। महत्वपूर्ण और अजीब बात यह है कि राष्ट्रीय जाँच एजेंसी "वामपंथी आतंक" से सम्बन्धित मामलों की जाँच विशेष तौर पर करेगी लेकिन मालेगाँव धमाकों के अतिरिक्त गुजरात, उड़ीसा, कर्नाटक जैसे राज्यों में दक्षिणपंथी आतंक के पुख्ता प्रमाण मिलने के बाद भी इसे जाँच एजेंसी के दायरे में नहीं रखा गया है। गवाहों, सुराग़ों और सबूतों आदि के बारे में भी सरकारी एजेंसियों को मनमाने अधिकारों से लैस कर दिया गया है।

आज तक के आतंकवाद विरोधी क़ानूनों के उपयोग (असलियत में दुरुपयोग) का इतिहास देखें तो पता चल जाएगा कि इन क़ानूनों का असली मकसद राजनीतिक विरोधियों, जागरूक और सक्रिय नागरिकों, राजनीतिक कार्यकर्ताओं और आम लोगों से निपटना और उन्हें आतंकित करना रहा है। इसके अलावा समुदाय–विशेष के लोगों के ख़िलाफ़ इनका बड़े पैमाने पर दुरुपयोग किया गया है। आम जनता के लिए आतंक का पर्याय बन चुकी पुलिस को ये क़ानून और भी पैने दाँत और नाखूनों से लैस करते हैं। पुलिसिया व्यवस्था द्वारा नियम–क़ानूनों को ताक पर रख देने से आजिज आकर सुप्रीम कोर्ट के एक न्यायाधीश ने उसे एक संगठित गुण्डा गिरोह के विशेषण से नवाज़ा था। झूठे आरोपों में बेगुनाहों को फँसाना, गैरक़ानूनी ढंग से हिरासत में रखना और टॉर्चर करना और फर्जी मुठभेड़ में लोगों और मामलों को निपटा देने में सभी राज्यों की पुलिस एक दूसरे से होड़ करती रहती हैं और तथाकथित सभ्य समाज एनकाउण्टर विशेषज्ञों को हीरो मानता रहता है।

आतंकवाद का हौवा खड़ा करने के पीछे की मानसिकता और इसकी सच्चाई पर भी गौर करना जरूरी है। आँकड़ों की मानें तो पिछले वर्षों में देश में आतंकवादी गतिविधियों में प्रतिदिन औसतन 2 लोगों की मौत हुई और अखबार से लेकर टी.वी. तक और संसद से लेकर सड़क तक यह मुद्दा सबसे महत्वपूर्ण बना रहा। जबकि इससे कहीं अधिक गम्भीर और ख़तरनाक तथ्य यह है कि इस दौरान पुलिस हिरासत में प्रतिदिन औसतन चार लोगों की मौत हुई और इस पर किसी का ध्यान नहीं गया। मतलब यह कि हमारे देश के लोगों की जान को आतंकवादियों से अधिक पुलिस से ख़तरा है। देश के सामने मौजूद अन्य गम्भीर समस्याओं जैसे कि भूख और कुपोषण से प्रतिवर्ष होने वाली हजारों बच्चों की मौत, काम के दौरान दुर्घटना और बीमारी से प्रतिवर्ष 4 लाख मज़दूरों की मौत और बाढ़, सूखा, पाला, बीमारी से हजारों–लाखों की तादाद में होने वाली मौतें, ऐसी अनेकों समस्याओं पर मीडिया, सरकार या सभ्य नागरिक समाज में उतनी सक्रियता नहीं दिखायी पड़ती जितनी की आतंकवाद पर।

सबसे कुख्यात आतंकवाद विरोधी क़ानून टाडा के तहत लगभग 67,000 लोगों को गिरफ्तार किया गया था जिसमें से सिर्फ 8,000 पर मुकदमा चलाया गया और उसमें भी सिर्फ 725 को दण्डित किया गया। टाडा मामलों की समीक्षा के लिए बनायी गयी सरकारी समितियों ने ही स्वीकार किया कि इन सभी मामलों में सिर्फ 5,000 मामले ही ऐसे थे जिनमें टाडा का प्रयोग किया जाना चाहिए था। 1993 में, गुजरात में आतंकवाद की कोई घटना नहीं हुई लेकिन वहाँ 19,000 लोगों को टाडा के तहत गिरफ्तार किया गया। धर्म के आधार पर टाडा का दुरुपयोग कितने बड़े पैमाने पर हुआ इसका अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि राजस्थान में टाडा के 115 आरोपियों में से 112 मुसलमान थे और 3 सिख। इसी तरह गुजरात में पोटा के तहत गिरफ्तार 200 से अधिक लोगों में एक व्यक्ति को छोड़कर बाकी सभी मुसलमान थे।

छत्तीसगढ़ जैसे नक्सली समस्या से जूझ रहे राज्यों, उत्तर–पूर्व तथा जम्मू और कश्मीर में पहले से ही उग्रवाद से लड़ने के नाम पर सेना–पुलिस, अर्द्धसैनिक बलों, और जाँच एजेंसियों को तमाम ऐसे अधिकार मिले हुए हैं जिनके द्वारा वहाँ सामाजिक–राजनीतिक कार्यकर्ताओं, जनपक्षधर पत्रकारों और संस्कृतिकर्मियों के मानवाधिकार हनन और उत्पीड़न की घटनाओं का सिलसिला लगातार चलता रहता है। डा. विनायक सेन और टी. राजू जैसे बेगुनाह लोगों को लम्बे समय तक हिरासत में रखा जाता है और उत्पीड़न किया जाता है। ऐसे अनेक मामले हैं जो उजागर ही नहीं हो पाते हैं। किसी भी प्रकार की ज़्यादती का विरोध करने वालों को झूठे मुकदमों में फँसा देना भारत की पुलिस व्यवस्था के बाएँ हाथ का खेल है। प्रतिक्रियावदी ताकतों के उग्र अल्पसंख्यक विरोध ने पहले ही उनके भीतर असुरक्षा की भावना भर दी थी, पर अब सभी राजनीतिक दलों द्वारा एकमत होकर नये आतंकवाद विरोधी क़ानूनों का समर्थन करने से अल्पसंख्यक समुदाय का अलगाव और असुरक्षा की भावना और बढ़ गयी है। और साथ ही इससे यह भी साबित हो गया है कि नागरिक अधिकारों के दमन के मामले में सभी राजनीतिक पार्टियों का रुख एकसमान जनविरोधी है।

यहाँ पर एक बार फिर हम यह याद दिला देना चाहते हैं कि हर प्रकार का आतंकवाद राज्य के दमन और शोषण का नतीजा होता है। राज्य के आतंकवाद के प्रतिरोध के विरु) यदि जनता के पास सार्थक प्रतिरोध का कोई मंच नहीं होगा तो वह हताशा और निराशा में आतंकवादी रास्तों की तरु आकर्षित होती है। भारत में राज्य के दमन के शिकार मेहनतकश जनसमुदाय और अल्पसंख्यक समुदायों में हम यह रुझान देख सकते हैं। एक ओर तो मेहनतकश जनसमुदायों के कुछ नौजवान बग़ावती जज़्बे के चलते क्रान्तिकारी आतंकवाद की धारा की ओर आकर्षित होते हैं, वहीं अल्पसंख्यक समुदाय के कुछ नौजवान धार्मिक कट्टरपंथी आतंकवाद की ओर। कहने की ज़रूरत नहीं है कि धार्मिक कट्टरपंथी आतंकवाद एक प्रतिक्रियावादी आतंकवाद है और जनता की वर्ग चेतना को कुन्द करते हुए उन्हें कूपमण्डूकता और पुनरुत्थानवाद के गड्ढे में धकेलता है। क्रान्तिकारी आतंकवादी संगठन भी अपने तमाम नेक इरादों के बावजूद जनता के संघर्षों को नुकसान ही पहुँचाते हैं। इतिहास जनता बनाती है, कुछ बहादुर लोग अपने हथियारों से इतिहास निर्माण नहीं कर सकते।

इस कानून के निशाने पर नक्सली संगठन भी हैं। प्रणब मुखर्जी ने साफ़ कहा है कि इस कानून के दो लक्ष्य हैं। विदेशी भूमि से चलने वाले इस्लामी कट्टरपंथी आतंकवाद का ख़ात्मा और देश की भूमि से चलने वाले नक्सली आतंकवाद का ख़ात्मा। लेकिन यह भी समझना ज़रूरी है कि नक्सली संगठनों की रोकथाम के नाम पर तमाम जनपक्षधर और क्रान्तिकारी संगठनों को निशाना बनाया जाएगा जो जनता को गोलबन्द और संगठित करके व्यवस्था और समाज में परिवर्तन की सोच रखते हैं। पहले के कानूनों के मामले में भी यह बात साबित हुई है जब अल्पसंख्यक समुदायों, वामपंथी दुस्साहसवाद, राष्ट्रीय अलगाववादियों आदि के साथ तमाम क्रान्तिकारी संगठनों को भी जमकर निशाना बनाया गया।

मेहनतकश जनता आज ग़रीबी, बदहाली और बेरोज़गारी से तंग आकर सड़कों पर उतर रही है। किसी क्रान्तिकारी नेतृत्व के अभाव में जनता चुपचाप नहीं बैठी हुई है। जनअसन्तोष का लावा समय–समय पर फूटकर सड़कों पर आ जा रहा है। इसे कुचलना भी इस कानून का लक्ष्य है। यानी, एक तीर से कई शिकार। आतंकवाद के नाम पर व्यवस्था का विरोध करने वाली और क्रान्तिकारी सम्भावना से सम्पन्न हर ताक़त का सफ़ाया। यही असली निशाना है। यह बात समझ लेने की ज़रूरत है कि जब तक किसी भी प्रकार के आतंकवाद के मूल कारणों का निवारण नहीं किया जाता तब तक किसी भी सख्त कानून, किसी विशेष सशस्त्र बल, सेना या पुलिस या किसी भी दमनात्मक कार्रवाई से या ऊपर से लिए गए किसी कार्यकारी निर्णय से इसे ख़त्म नहीं किया जा सकता। इतिहास गवाह है कि ऐसे दमन से आतंकवाद और बढ़ा ही है। आज पूरी दुनिया में आतंकवाद का बढ़ना इसी बात की ताईद करता है।

– जय पुष्प

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी डा. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा वाणी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंग: कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन, लखनऊ।
सम्पादक : **डा. दूधनाथ, सुखविन्दर** • सम्पादकीय पता : **69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ–226 020** • सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ